

चिन्तन-सूजन

त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2016

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति
लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक
बी. बी. कुमार

आरथा भारती
दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	<u>§ 15</u>

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	<u>§ 4</u>

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा

प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा,

दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं।
सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. मार्कसवाद : प्रतिक्रांति की विचारधारा बनवारी	7
2. गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन विश्वास पाटिल	13
3. गाँधी के अधूरे भाषण की याद में राजीव रंजन गिरि	36
4. हिन्द स्वराज का पहला पाठ चम्पारण विजय बहादुर सिंह	51
5. धर्म निरपेक्षता : बौद्धिक उथलेपन का प्रतीक डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त	57
6. इस्लाम और मुसलमान शंकर शरण	67
7. आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक—मनीषी डॉ. कमल किशोर गोयनका	74
8. ‘विमर्श’ अवधारणा, स्वरूप और प्रकार डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे	83
9. भारतमाता की जय : एक विमर्श विजय रंजन	94
चिन्तन-सुजन, वर्ष-14, अंक-2	3

10.	लोक जगत में जगतीकरण की सेंध डॉ. श्यामबाबू शर्मा	105
11.	डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों में सामाजिक मूल्य सेराज अहमद अंसारी	111
12.	समीक्षा जन्मभूमि से विदेश तक श्रीरंजन सुरिदेव	117
13.	असम की बराक घाटी और हिन्दी कस्तूरी चक्रवर्ती	119
14.	महर्षि मैर्हे की भक्ति साधना डॉ. छोटे लाल बहरदार पाठकीय प्रतिक्रिया प्राप्ति-स्वीकार	123 128 131

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

विमर्श की जड़ता

हमारे देश में यह आवश्यक नहीं कि विमर्श तथ्याधारित ही हो। विचार एवं विचारधारा की जकड़न विमर्श को एक ढाँचे में बाँधकर रखती है। ज्ञान का या तो नवीनीकरण नहीं होता या जानबूझ कर तथ्यों की अवहेलना की जाती है। और फिर ऐसा बार बार होता है। वस्तुतः होना यह चाहिए था कि जब भी कोई नयी जानकारी सामने आए बौद्धिक वर्ग को यथाशीघ्र उसे अपने विमर्श का विषय बनाना चाहिए। दुर्भाग्यवश, होता इसके विपरीत ही है, और फिर जानबूझकर उसकी अवहेलना की जाती है। उदाहरण स्वरूप हम धर्मपाल के काम को ले सकते हैं। उनके शोधपूर्ण कार्य से नये तथ्य उजागर हुए हैं; कई मिथक टूटे हैं। धर्मपाल की शोध पुस्तक व्यूटिफुल ट्री ब्रिटिश-पूर्व भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की तथ्यपूर्ण जानकारी देती है। उसके अनुसार अंग्रेजों के आने के पहले भारत के हर गाँव में विद्यालय होते थे, जिनमें सभी जातियों के बच्चे पढ़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों की आदम की रिपोर्ट के अनुसार बिहार एवं बंगाल के विद्यालयों में ब्राह्मण शिक्षक केवल 9.6% एवं ब्राह्मण विद्यार्थी 23.6% थे। पढ़ने वालों में 66 चाण्डाल एवं 20 मोर्ची थे। 95 हिन्दू जातियों के विद्यार्थी इन विद्यालयों में पढ़ने जाते थे, जैसा कि आदम की रिपोर्ट, जिसे धर्मपाल ने उद्धृत किया है, कहती है। धर्मपाल ने दक्षिण भारत में शिक्षा की स्थिति पर सर थोमस मुनरो की रिपोर्ट का सहारा लिया है। उसके अनुसार तमिल जिलों के विद्यालयों में तथाकथित ऊँची जातियों – ब्राह्मण, चेट्टियार एवं वैश्य जातियों – के मात्र 35.5% बच्चे ही विद्यालयों में पढ़ते थे। समस्त मद्रास प्रेसीडेन्सी में शेष विद्यार्थी ब्राह्मणेतर जातियों के थे। स्पष्टतः शिक्षा पर ब्राह्मणों के एकाधिकार की वात एक उपनिवेशवादी मिथक की तहत प्रचारित की गयी, जिसकी रट आज भी मार्क्सवादी बुद्धिजीवी, दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के लेखक लगातार लगा रहे हैं। वस्तुतः ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि (क) विमर्श का राजनीतिकरण हुआ है, जिसमें वामपंथी बौद्धिकों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया, तथा इसका लाभ वे लेते रहे, तथा (ख) हमारे देश में समाज विज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान की ‘अपडेटिंग (updating), अद्यतन बनाने की प्रक्रिया, नहीं चलने दी गयी।

अल-वेरूनी भारत में आज से हजार साल पहले आया था। उसने हिन्दुओं की चार जातियों की, एवं उनके एक स्थान पर भोजन करने की बात लिखी है। स्पष्टतः जातियों की संख्या में अनपेक्षिक बढ़ोतरी एवं अस्पृश्यता का बाद का रूप तुर्क आक्रमण के बाद की प्रक्रिया थी। फिर इस प्रक्रिया के कारक ही महत्तर को मेहतर बनाने के जिम्मेदार थे, जिसका उल्लेख हमारे विमर्श से गायब है।

हमारे लेखन में अंग्रेजों का एजेन्ट जमीन्दार एवं उसका उत्पीड़न तो परिलक्षित होता है, किन्तु अंग्रेज कम ही दिखता है, जिसने हमारे शिल्प नष्ट कर अधिकांश जनसंख्या को खेतिहार मजदूर बना दिया; हमें नंगा, भूखा, रोगी बनाकर छोड़ा। अंग्रेजों के आने के बाद चालिस वर्षों के अन्दर इस देश में निरक्षरता एवं अशिक्षा लगातार बढ़ी। उल्लेख्य है कि स्वयं मार्क्स अंग्रेजी साम्राज्यवाद का प्रशंसक था, अतः हमारे मार्क्सवादी लेनिनवादी स्तालिनवादी बौद्धिकों द्वारा उनके कुकृत्यों की अनदेखी कोई आश्चर्य की बातें नहीं। फिर 1942 में कम्युनिस्टों ने अंग्रेजों का साथ तो दिया ही था। जब आजादी आयी तो हमारे उन लोगों को वह आजादी झूठी लगी। इस देश के लोगों को काम करने का मौका दिए बिना रणदिवे के नेतृत्व में अन्होंने तख्ता-पलट की घेष्ठा की। वे विफल रहे; फिर बौद्धिक क्षेत्र में उस विचारधारा के बौद्धिकों का वर्चस्व बढ़ा; फार्मूलाबद्ध लेखन के तहत लिखनेवालों को कुंठा, संत्रास, टूटन, सामाजिक विसंगतियाँ, रुद्धियाँ, शोषण, उत्पीड़न ही दिखा। फिर वही उनके लेखन में हावी रहा। स्त्री लेखकों के एक वर्ग को पिरुसत्तात्मकता, यौन शोषण, औरत के अंतस का हाहाकार ही दिखता रहा, जो कई लेखकों के अपने जीवन के अपने अनुभव को प्रतिविम्बित नहीं करता था। ऐसे में समाज के सकारात्मक पहलुओं का लेखन में अभाव पाठकों के लिए सुखद नहीं रहा। परिणाम स्परूप लेखक एवं लेखन दोनों ही, पाठक से कटे; पाठकों की संख्या लगातार घटी; साहित्य हासिए पर चला गया।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, हमारा विमर्श, हमारा साहित्यिक लेखन जड़ताग्रस्त हो गया। इसे हमारी राजनीति ने बढ़ाया है। पत्रकारिता ने भी वैचारिक धुँध को बढ़ाने में मदद किया है। स्पष्टतः स्थिति में बदलाव लाया जाना चाहिए। ऐसा सघन अध्ययन, चिन्तन एवं हमारी सोच में राष्ट्र एवं समाज की केन्द्रीयता लाकर ही संभव है।

— ब्रज बिहारी कुमार

मार्क्सवाद : प्रतिक्रांति की विचारधारा

बनवारी*

पिछली लगभग एक शताब्दी से यूरोप के जो विचार दुनियाभर के बौद्धिक जगत को दिग्भ्रमित किए रहे हैं, उनमें एक मार्क्सवाद है। 1848 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन से मार्क्सवाद का उदय हुआ था। वह यह घोषित करने के लिए लिखा गया था कि यूरोप का पूँजीवाद एक आंतरिक संकट की ओर बढ़ रहा है। जल्दी ही यह संकट सर्वहारा की क्रांति की ओर ले जाएगा। उससे सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होगी। वह वर्ग समाज का नाश करके एक वर्ग रहित समाज की स्थापना करेगा। लेकिन पूँजीवादी देशों में कार्लमार्क्स द्वारा कल्पित ऐसा कोई आंतरिक संकट प्रकट नहीं हुआ, जो उसे सर्वहारा की क्रांति की ओर ले जाए। पूँजीवादी विकास में पिछड़ गए रूस में एक राजनैतिक संकट अवश्य पैदा हुआ। औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए रूस में सत्ताधारी वर्ग दो हिस्सों में बंट गया। एक वर्ग ने मार्क्सवाद का पाठ पढ़कर मजदूरों को अपने साथ मिलाया। राजा और उसके तंत्र की साख गिर रही थी। फलतः 1917 में रूस में मार्क्सवादी क्रांति हुई। इस क्रांति को हुए एक शताब्दी बीत चुकी है। इस अवसर पर मार्क्सवाद की जैसी समीक्षा होनी चाहिए थी, नहीं हुई। यूरोप की एक प्रतिस्पर्धी विचारधारा के रूप में आज मार्क्सवाद को कोई गंभीरता से लेता भी नहीं है। लेकिन रूस और चीन जैसे दो शक्तिशाली देश मार्क्सवाद से प्रेरित राजनैतिक व्यवस्था चला रहे हैं। उनके कारण एक राजनैतिक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद की साख अभी भी बची हुई है।

भारत से यह अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है कि वह यूरोप से निकली विचारधाराओं की गंभीर समीक्षा प्रस्तुत करे। शास्त्रीय बुद्धि की दृष्टि से भारतीय संसार की सबसे अग्रणी जाति हैं। उन्होंने सभी दिशाओं में एक विशाल साहित्य रचा है। उनमें यह योग्यता है कि वे संसार की किसी भी विचारधारा की गंभीरता से समीक्षा

* पूर्व सम्पादक, जनसत्ता; पता: बी-201, जनसत्ता आपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुन्धरा, गाजियाबाद-201012 (उ. प्र.), मो. 09911450689.

कर सकें। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक काशी के पंडितों की दुनियाभर में धूम थी। 1850 के आसपास ब्रिटिश सरकार ने काशी नरेश द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला को अपने अधिकार में लेने के बाद बैठाए गए वहाँ के प्रिंसिपल वेलेंटाइन को कहा था कि वह तब तक यूरोप ने ज्ञान-विज्ञान में जो प्रगति की थी, उसे काशी के पंडितों के सामने प्रस्तुत करके उनकी राय लें। काशी के पंडितों ने प्रस्तुत की गई स्थापनाओं को गंभीर विचार के योग्य भी नहीं माना। लेकिन भारत और उसके साथ-साथ शेष दुनिया पर अपने राजनैतिक प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के बाद यूरोपीय आत्मकेंद्रित हो गए। उन्होंने यह घोषणा करनी आरंभ कर दी कि वे मानव इतिहास की सबसे उन्नत सभ्यता विकसित करने में सफल हुए हैं। शेष विश्व को उनके अनुगत रहकर उनकी राजनैतिक, आर्थिक और वैचारिक प्रणालियों को अपने यहाँ लागू करना है।

भारत के लोगों ने उनके इस दावे को कभी अधिक गंभीरता से नहीं लिया। बीसवीं सदी के आरंभ में जब चीन का बौद्धिक जगत मार्क्सवाद की ओर खिंचने लगा था, भारत के मनीषीय यह घोषणा कर रहे थे कि इक्कीसवीं सदी निस्संदेह भारत के उत्कर्ष की सदी होगी। ठीक उसी तरह जिस तरह औद्योगिक क्रांति के कारण उन्नीसवीं सदी ब्रिटेन की सदी थी और प्रौद्योगिकीय क्रांति के कारण बीसवीं सदी अमेरिका की सदी रही है। इक्कीसवीं सदी आरंभ हो चुकी है। भारत धीरे-धीरे अपना आत्मविश्वास लौटा रहा है। लेकिन अभी उसकी शास्त्रीय बुद्धि सोई हुई ही लगती है। यूरोपीय विचारों की जैसी गंभीर समीक्षा की उससे अपेक्षा थी, वह उसने अभी करनी आरंभ नहीं की। इसका एक कारण यह है कि भारत जब स्वतंत्र हो रहा था, दूसरे विश्व युद्ध से क्षत-विक्षत यूरोप अपना कायाकल्प करने में लगा था। 1950 से 1970 के बीच वह अपना ऊपरी स्वरूप पूरी तरह बदलने में समर्थ हो गया। इस कालावधि में वह भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुंच गया। इस समृद्धि की चमक-दमक ने दुनियाभर के बौद्धिक जगत को दिग्भ्रमित कर दिया। धीरे-धीरे उन्हें यूरोपीय सभ्यता के गंभीर दोष भी दिखाई देने लगे। लेकिन एक प्रतिस्पर्धी विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के उदय ने यूरोप निरपेक्ष बुद्धि को पनपने नहीं दिया।

भारत को यूरोपीय विचारों की समीक्षा मार्क्सवाद से ही आरंभ करनी चाहिए थी। कालमार्क्स जिस समय पैदा हुआ था, वह समय यूरोप में विचार का नहीं, विचार-युद्ध का समय था। कार्ल मार्क्स भी एक विचार-योद्धा ही है। उसकी रूचि सत्य के अन्वेषण में नहीं है। वह यूरोप के शासक वर्ग का ही एक सदस्य है। इस शासक वर्ग के भीतर उसने प्रभावशाली होने के लिए पैतरा बदल लिया है। उसने यूरोप के इतिहास को समझने की कोशिश नहीं की। सर्वहारा के पक्ष में झंडा उठाते हुए यूरोपीय इतिहास की एक काल्पनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी। अपनी इस व्याख्या को उसने समूचे विश्व के इतिहास की व्याख्या बना दिया। यूरोप से बाहर के समाजों के बारे में उसकी समझ नगण्य है। 1857 के आसपास जब भारत में साम्राज्यवादी यूरोप का

प्रतिनिधि ब्रिटेन सेना और आम लोगों के व्यापक विद्रोह के कारण संकट में पड़ा था, कार्ल मार्क्स यह कहते हुए साम्राज्यवादी ब्रिटेन के गीत गाने में लगा था कि वह भारत में इतिहास की प्रगतिशील शक्तियों का उत्तरेक है। कार्ल मार्क्स ने भारत और भारतीय सभ्यता के बारे में अत्यंत निंदनीय टिप्पणियां की हैं। उसने कहा है कि भारतीय समाज गतिहीन समाज है। उसके गांव जड़ता के कारण सड़न का शिकार हो गए हैं। वह लगातार बाहरी शक्तियों द्वारा विजित किया जाता रहा है। उसे उसकी इस अधोस्थिति से निकालने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रगतिशील भूमिका है। कार्ल मार्क्स ने भारत की धार्मिक मान्यताओं का भी इसी दुष्ट बुद्धि से उपहास उड़ाया है। भारत के बारे में उसकी मान्यताओं को पढ़ने के बाद किसी भी सजग और स्वाभिमानी भारतीय में उसके प्रति जुगुप्ता ही पैदा होगी। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे एक वर्ग ने जो आत्महीनता पैदा कर दी है, उसके कारण भारत में भी बौद्धिकों का एक वर्ग मार्क्सवाद की शरण में चला गया है।

मार्क्सवाद ही नहीं यूरोप के सभी विचारों को समझने के लिए यूरोप के इतिहास को समझना बहुत आवश्यक है। संसार में यूरोप अकेली ऐसी जगह है, जहां सदा व्यवस्थाएँ एक या दूसरी तरह की दासता पर खड़ी हुईं। आम भारतीयों को यूरोपीय इतिहास को समझने में कठिनाई होती है क्योंकि जिस तरह की बर्बर और नियंत्रणकारी व्यवस्थाएँ वहाँ हमेशा रही हैं, उनकी हम अपने यहाँ के अनुभव के आधार पर कल्पना भी नहीं कर सकते। यूनान के नगर राज्य और रोम का साम्राज्य तीन चौथाई से भी अधिक आबादी को दास बनाकर खड़े हुए थे। यूरोप के मध्यकाल के सभी राज्य 85 प्रतिशत लोगों की भू-दासता पर और 13-14 प्रतिशत लोगों की अर्ध-दासता पर खड़े हुए थे। यूरोप में आम लोगों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं था। वहाँ सभी तरह का स्वामित्व केवल अभिजात वर्ग के पास रहा है, जो वहाँ की कुल आबादी का एक-डेढ़ प्रतिशत से अधिक नहीं था। सारे राजनैतिक परिवर्तन इस अभिजात वर्ग की भीतरी प्रतिस्पर्धा के कारण ही होते थे, किसी वर्ग संघर्ष के द्वारा नहीं। साधारण लोग सदा उनकी निरंकुश अधीनता में ही रहे। यूरोप में साधारण लोगों को शिक्षा का अधिकार भी नहीं था। इसलिए 1820 से पहले यूरोप में स्कूल जैसी कोई संस्था नहीं है। ग्यारहवीं शताब्दी से वहाँ अभिजात वर्ग की शिक्षा के लिए अनेक केंद्र विकसित हुए, जो आरंभ में कोचिंग सेंटर की तरह थे। वही कालांतर में विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुए। यूरोपीय इतिहास के इस पहलू पर अधिक सोचा नहीं गया। यूरोप की सारी राजनैतिक व्यवस्थाएँ आंतरिक उपनिवेशीकरण के आधार पर खड़ी हुई हैं, इस तथ्य की ठीक से समीक्षा नहीं हुई।

रोम साम्राज्य के अवसान के बाद यूरोप अंधकार युग में चला गया था। इस्ताम के उदय और अरबों के शक्तिशाली हो जाने से जो चुनौती पैदा हुई, उसने यूरोप को झिंझोड़ दिया। 800 ईस्वी के आसपास यूरोप में फिर से राजनैतिक शक्ति संगठित

होनी आरंभ हुई। उस समय अधिकांश यूरोप कबीलाई था। यूरोप में राजनैतिक शक्ति का अर्थ रहा है युद्ध-तंत्र। नगरीय व्यवस्था के रूप में यह युद्ध-तंत्र पनपा और चर्च के सहयोग से उसने समूचे यूरोप को दास-व्यवस्था में अधिगृहीत कर लिया। खेती की सारी भूमि का स्वामित्व विजेता योद्धाओं के हाथ में चला गया, जिन्हें अभिजात वर्ग मान लिया गया। 85 प्रतिशत आबादी भू-दास हो गई। भू-दास की स्थिति का वर्णन करते हुए यूरोपीय इतिहासकारों ने लिखा है कि उन्हें केवल अपने पेट पर अधिकार था। यहां तक कि उन्हें अपने परिवार और अपने कपड़े-लत्तों पर भी अधिकार नहीं था। उनका स्वामी आवश्यकता पड़ने पर परिवार के सदस्यों को अलग करके दूर स्थानों में भेज सकता था। शादी-विवाह भी भू-स्वामी की अनुमति से ही होते थे।

इस स्थिति में पहला परिवर्तन 1350 की प्लेग के कारण हुआ। इस प्लेग में यूरोप की आधी आबादी नष्ट हो गई। ऐसी महामारियां वहां आती रहती थीं, लेकिन 1350 की प्लेग ब्लैक डेथ के नाम से यूरोप के इतिहास में दर्ज है क्योंकि उसने यूरोप की आर्थिक दिशा ही बदल दी। आबादी घटने के कारण खेती करना मुश्किल हो गया, मजदूर नहीं रहे, इससे कुलीन वर्ग का ध्यान व्यापार की ओर गया। 1453 में उनकी राजनैतिक शक्ति का केंद्र कास्ट्रेन्टिनोपल तुर्कों के हाथ में चला गया। इससे व्यापार के नए मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। इसी कोशिश में स्पेन के हाथ अमेरिकी महाद्वीप आ गया। फिर यूरोप की दूसरी शक्तियां भी वहां पहुंची। वहां की दस करोड़ आबादी अपनी तोपों, बंदूकों और बीमारी के विषाणुओं के बल पर यूरोपियों ने 50-60 वर्ष में ही नष्ट कर दी। इस तरह उन्हें यूरोप से भी चार गुना बड़ा एक विशाल महाद्वीप मिल गया। वहां काम करने के लिए लोगों की आवश्यकता थी। यूरोप से ही पहले वहां खेती से उजड़े लोगों को इंडेंचर लेबर बनाकर ले जाया गया। फिर अफ्रीका से दास बनाकर लोग जबरन लाए गए। धीरे-धीरे यूरोप की काफी आबादी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि नई कॉलोनियों में स्थानांतरित होती रही। इन क्षेत्रों से यूरोप को जो समृद्धि मिली, उसने दास व्यवस्था को ढीला किया। 1860 के आसपास अमेरिका से लगाकर ब्रिटेन, फ्रांस और रूस तक सभी जगह दासता गैरकानूनी घोषित कर दी गई। लेकिन दासता को गैर-कानूनी घोषित करने का अर्थ था मालिकों की भू-दासों के प्रति जिम्मेदारी खत्म कर देना। लोग खेतों से खदेड़ दिए गए। वे शहरों में भिखारी की तरह विचरने को मजबूर हो गए। इन्हीं को कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा कहा है। लेकिन उनके पास न क्रांति का सामर्थ्य था, न साधन। 1850 के आसपास वे पेरिस की आबादी का एक तिहाई थे।

यूरोप के इतिहास की दूसरी बड़ी घटना 1789-99 की फ्रांसी क्रांति है। यूरोप में फ्रांस, ब्रिटेन और स्पेन के बीच नियंत्र चलते रहने वाले युद्धों ने राजकोष को और राजशक्ति को क्षीण कर दिया था। करों का बोझ बढ़ गया था। 1765-83 के बीच हुई अमेरिकी क्रांति ने कुलीन वर्ग की सत्ता कमज़ोर कर दी थी। अमेरिका में अभिजात

वर्ग की तरह का एक नया निरंकुश पूँजीवादी वर्ग उदित हो रहा था। उसने एक नए वैचारिक ढंग को जन्म दिया। फ्रांस उस समय क्रांतिकारी विचारों का गढ़ बन गया था। वाल्टेयर जैसे विचारकों ने यूरोपीय व्यवस्थाओं पर गंभीर प्रश्न उठाए थे। इसी सब माहौल में फ्रांसी क्रांति हुई, क्रांतिकारियों ने अभिजात वर्ग के सभी विशेषाधिकार समाप्त कर दिए। 17 जनवरी 1793 को फ्रांस के राजा को फांसी पर चढ़ा दिया गया। इस क्रांति के बाहक भी अभिजात वर्ग के बीच के ही लोग थे। कुछ दिन तक क्रांतिकारियों के भीतर ही परस्पर ढंग और मारकाट चली और उसी में से नेपोलियन का उदय हुआ। यह समय था जब धीरे-धीरे भूमि का स्वामित्व कुलीन वर्ग से खेती करने वाले लोगों के हाथ में पहुंचने लगा था। ठीक उस समय कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा की क्रांति का नारा दिया। एक हिंसक क्रांति के द्वारा सर्वहारा की तानाशाही के विचार ने एक प्रतिस्पर्धी राजनैतिक शक्ति पैदा कर दी। यह राजनैतिक शक्ति सर्वहारा के भीतर से पैदा नहीं हुई। लेकिन उसने सर्वहारा को सत्ता पाने का साधन बना लिया।

कार्ल मार्क्स का कर्म क्षेत्र फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी थे, लेकिन वहां कोई मार्क्सवादी क्रांति नहीं हुई। कार्लमार्क्स की म त्यु के 34 वर्ष बाद मार्क्सवादी क्रांति हुई रूस में और कई दशक बाद चीन में। इन दोनों देशों में सर्वहारा के नाम पर एक नए राजनैतिक वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई। कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही सर्वहारा की तानाशाही मान ली गई। फ्रांसी क्रांति ने यूरोप के इतिहास में पहली बार उत्पादन के साधनों पर कुलीन वर्ग की जगह साधारण लोगों के अधिकार की संभावना जगाई थी। मार्क्सवाद ने यह संभावना समाप्त कर दी। सामूहिक स्वामित्व के नाम पर लोगों से उत्पादन के साधनों पर उनके अधिकार छीन लिए गए और सारी सत्ता एक नए राजनैतिक वर्ग के हाथ में चली गई। यह वर्ग रूस और चीन दोनों जगह एक नए अभिजात वर्ग के रूप में उभर आया है। यह समझने के लिए कोई विशेष बुद्धि नहीं चाहिए कि तानाशाही सदा मुट्ठीभर लोगों के हाथ में राजशक्ति चले जाने से स्थापित होती है। वह सर्वहारा जैसे किसी वर्ग की तानाशाही नहीं हो सकती। इस तरह मार्क्सवाद क्रांति की विचारधारा नहीं, प्रतिक्रांति की विचारधारा सिद्ध हुआ है। उसने यूरोप के प्यूडलिज्म को एक नया राजनैतिक स्वरूप देकर फिर से स्थापित कर लिया। इस कम्युनिस्ट व्यवस्था को बनाने और बनाए रखने में साधारण लोगों के साथ पशुवत व्यवहार हुआ। रूस और चीन दोनों जगह साम्यवादी तंत्र खड़ा करने में करोड़ों लोगों की बति चढ़ा दी गई।

भारत के बौद्धिक वर्ग को यह बात सहज ही समझ में आ जानी चाहिए थी कि मार्क्सवाद एक यूरोपीय विचार है और उसमें जिस वर्गहीन समाज की बात कही गई है वह अभिजात वर्ग से मुक्ति भर है। मार्क्सवाद किसी समताशील समाज की ओर नहीं ले जाता, वह एक नए निरंकुश तंत्र के हाथ में सत्ता दे देता है, जो पुराने अभिजात वर्ग से कम उत्पीड़क सिद्ध नहीं हुआ। भारत में उत्पादन के साधनों पर सदा साधारण

लोगों का स्वामित्व रहा है। भारत में राजा को कभी सारी उत्पादक संपत्तियों का स्वामी नहीं माना गया। अपने दायित्व निभाने के लिए उसे उत्पादन में एक भाग स्वीकृत किया गया है। पराधीनता के काल में पहले मुस्लिम शासकों ने और फिर अंग्रेजों ने उत्पादन के साधनों पर शासक वर्ग का स्वामित्व स्थापित करने की कोशिश की। एक सीमित क्षेत्र में ही वह सफल हो पाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारों ने जर्मिंदारी प्रथा समाप्त करके भूमि का पुर्णवितरण किया। 1951 में विनोबा भावे ने जो भूदान यज्ञ आरंभ किया था, वह अब तक सबसे क्रांतिकारी अभियान था। भारत के कम्युनिस्टों ने केवल हिंसा और परस्पर घृणा को ही बढ़ावा दिया है और भारतीय सभ्यता के निंदकों की एक जमात खड़ी कर दी है। जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय उनका अड्डा बने हुए हैं। मार्क्सवादियों में अधिक शक्ति नहीं बची है। भारत के लोगों ने मार्क्सवादियों को राजनैतिक तलछट बना दिया है। एक विचारधारा के रूप में दुनियाभर में उसका प्रभाव नाममात्र का रह गया है। भारत के युवाओं का एक बहुत छोटा वर्ग ही उनके प्रभाव में है। वे देर-सबेर इतिहास बन जाएंगे। लेकिन उससे पहले हमें मार्क्सवाद की गंभीर समीक्षा कर लेनी चाहिए। उससे हमें यूरोपीय बुद्धि को समझने में सहायता मिलेगी।

गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन

विश्वास पाटिल^{*}

गाँधी जी की भाषा में साहित्य धर्म और संस्कृति का सारांश है। वे लिखते हैं कि कबीर, ज्ञानेश्वर, त्यागराज, नरसी मेहता इन साधु-सन्तों की भाषा हमेशा-हमेशा के लिए सादगी भरी और आसान ही है ऐसा कहना साहस भरी बात होगी। ऐसा होते हुए भी वे कौन-से कारण हैं जिनके आधार पर यह साहित्य जन-जन का कंठहार बन पाया? इसका कारण है इनकी सरल-सहज-ऋजु भाषा। यह भाषा ऋजु अन्तःकरण की भाषा है। यही आम आदमी तक पहुँच पाती है। आम आदमी तक पहुँचने के लिए न केवल भाषा का विवेक अपितु अन्तःकरण की आर्द्रता और तरलता भी आवश्यक है। पारदर्शिता की आवश्यकता है। हलवाहे तक पहुँचने वाली भाषा का मर्म उसके रस्से तक पहुँचना नहीं उसके हृदय तक पहुँचना है। उसे छू लेना है। आज भी गाँव-गाँव में सूर, तुलसी, मीरा और कबीर के समान ही जन कवियों की कविता गाई जाती है। गाँवों की चौपालों पर और समारोहों में इनकी रचनाएँ भक्तिभाव पूर्वक सुनी-गाई जाती हैं। आम आदमी तक सन्त साहित्य पहुँचता है तो वह प्रौढ़ जनों के लिए लिखे गए साहित्य के समान केवल शब्दों का जादू ही नहीं है यह उनकी मान्यता आज अनेक सन्दर्भों में परखकर देखने योग्य मानी जा सकती है। आसान और सरल सादगी भरा जीवन जिस प्रकार से वरेण्य होता है ठीक उसी प्रकार से साहित्य भी जीवन को और जीवनवादियों को प्रफुल्लित करता है। गाँधी जी ने अत्यन्त सुन्दर शैली में संस्मरणात्मक लेखन किया है। वह साहित्य की स्थायी निधि है। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा अनेक अर्थों में विशिष्ट मानी जा सकती है। गाँधी जी के हिन्दी साहित्य पर प्रभाव के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से प्रणयन हुआ है। श्रीकान्त जी जोशी ने इस सन्दर्भ में माखनलाल जी का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—“माखनलाल जी अनेक अर्थों में गाँधी जी का और बहुत अर्थों में शुद्ध वैष्णवी

* ललित निवंध, उपन्यास, जीवनी परक, समीक्षात्मक एवं महात्मा गांधी से संबद्ध लेखन; मराठी एवं हिन्दी के बीच सेतु निर्माण के लिए उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 2015 वर्ष का सौहार्द सम्मान एवं महाराष्ट्र मध्य प्रदेश से लेखन पुरस्कार प्राप्त; e-mail:vishwaspatil 52@gmail.com

कृच्छ्र साधना के पथ का अनुसरण करते हैं। लेकिन कोरा अनुसरण करने वाले वे नहीं हैं। उनका अपना विवेक सत्याचरण का प्रयोग करता रहता है।” (माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, प्रथम खंड, पृष्ठ 28)

माखनलाल जी पर पड़े गाँधी प्रभाव का एक दृश्य परिणाम उनके इस चिन्तन में दिखाई देता है। माखनलाल जी लिखते हैं—“जो ऐसी भाषा का लगातार उपयोग करते हैं, जिसे लिखते ही कठिन होने के कारण जन-जीवन में पहुँचने के पंख तोड़ दिए जाते हैं, ऐसी रचनाएँ चाहे जितनी श्रेष्ठ हों, वे जन-जीवन से दूर और कभी-कभी निरुपयोगी सांस्कृतिक बस्तों में बाँधकर रख देने की चीज बन जाती हैं।” (माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, द्वितीय खंड, पृष्ठ 326-327)

गाँधी जी बराबर यह चाहते रहे कि साहित्य मानव के मन को क्षुद्रताओं से बचाएगा और उन्नति की दिशा में अग्रसर करेगा। मानव चिन्तन का मूल धन ऊर्ध्वमुखी शक्तियों का जागरण कर विश्व साहित्य में अपनी ओर से नई बात को प्रस्तुत करना ही तो है। अणु युग और आगे आने वाले युगों के विश्व के लिए एक नया गीत लिखने का काम साहित्य करेगा। गाँधी जी के साहित्य विषयक चिन्तन को दरअसल विश्व साहित्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। उसे उनके अन्तःकोष के मणि-माणिक्य के साथ जोड़ना होगा। सिद्धान्त रूप में यह वैष्णव चिन्तन है, विचार रूप में पूरब और पश्चिम की सहयात्रा है, अभिव्यक्ति के रूप में सर्वसामान्य जनों के साथ चलने वाला और सबको साथ ले कर चलने वाला सहित भाव है।

स्वयं गाँधी जी भी साहित्य के सम्बन्ध में एक विचार करते हुए दिखाई देते हैं। वह विचार क्या है? उसका रूप क्या है? इसका विवेचन करना यहाँ आवश्यक है। विश्व के क्षितिजों को छू सकने वाले साहित्य का रूप क्या हो? इसके बारे में उनके अपने कुछ निकष अवश्यमेव थे। उनकी राय का सारांश था कि वह साहित्य विश्व साहित्य का दर्जा पा सकता है जिसके लिए किसी भी प्रकार की कोई बाड़ न हो। न कोई बन्धन हो न कोई धेरा हो। न कोई मर्यादा हो। जो साहित्य जाति-पाँति, सम्प्रदाय, धर्म, रंग, लिंग, स्वार्थ या राष्ट्र के भेदभेद को मिटा सकता है वह विश्व साहित्य बनने की योग्यता पाने वाला साहित्य हो सकता है। जो साहित्य तमाम कठघरों से मुक्त है। जो साहित्य तमाम बन्धनों की इयत्ताओं को पार कर सकता है। जो साहित्य मुक्त आकाश एवं खुली धरती के समान सबके स्वागत के लिए तत्पर है। तैयार है। खुला है। वह साहित्य विश्व साहित्य की योग्यता पा सकता है। साहित्य इस अर्थ में उनकी नजरों में साथ-साथ चलने का व्यापार या व्यवहार है। ‘सहितस्य भावः साहित्यं’ यह साथ-साथ चलने का भाव, द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त होकर ही साधा जा सकता है, यह उनकी विनम्र मान्यता रही। वे विश्व का अर्थ किसी भू-प्रदेश तक इसीलिए सीमित नहीं मानते थे। सभी प्रकार के बन्धनों से जो मुक्त है वह विश्व साहित्य बनने की योग्यता पा सकता है। विश्व साहित्य के लिए अपरिहार्यतः उस साहित्यिक का जीवन एवं जीवन दशा भी उस दर्जे की होने की माँग करते हैं। हमारी भारतीय परम्परा में

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीरदास, ज्ञानेश्वर, चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी तुलसीदास आदि महापुरुष इस प्रकार के व्यक्तित्व के धनी थे। उनका साहित्य इस विश्व साहित्य के ऊँगन में प्रस्थापित होने योग्य है। इस सन्दर्भ में एक मर्मवेदी प्रश्न की ओर गाँधी जी ने सबका ध्यान आकृष्ट किया है कि क्या साहित्य एवं उसका लेखक इनका कोई परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक है? दूसरे शब्दों में क्या साहित्य एवं साहित्यकार का पारस्पारिक कोई रिश्ता, नाता होना जरूरी है? क्या साहित्यिक की तुलना में उसका साहित्य श्रेष्ठ हो सकता है? यह वाद का विषय हो सकता है। साहित्य और साहित्यिक का परस्पर भावसम्बन्ध होना आवश्यक है क्या? आदि प्रश्न इस सन्दर्भ में उपस्थित करने की संभावना जागती है।

जब तक साहित्यिक के व्यक्तित्व को वैश्विक योग्यता नहीं मिल सकती तब तक क्या उसके साहित्य को वह मान्यता मिल सकती है? साहित्यिक को चाहिए कि वह अपने व्यक्तित्व को इतना समृद्ध बनाए कि विश्व उसमें आ समाए। यह करते हुए उसके व्यक्तित्व को किसी प्रकार की हीनता का बोध नहीं छू सकता। उसकी अस्मिता पर कोई चोट नहीं पड़ सकती। उसके आत्मगौरव को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए भी अपने आकलन को वैश्विक मान्यता दिलाई जा सकती है। यह अभिनव विचार गाँधी जी के साहित्य के निकषों को समझने की दृष्टि में विशिष्ट है। बाधाओं और अवरोधों को तोड़-काटकर वह अधिक व्यापक एवं अधिक सर्वग्राही हो सकता है। यह साहित्य की साधना और आराधना का मर्म गाँधी जी ने प्रस्तुत किया है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बाड़ों में अपने-आपको सुरक्षित एवं धन्य समझता है। बाड़े एवं घेरे उसे उपयुक्त एवं सुन्दर लगने लगते हैं। यह तथ्य उसकी समझ में ही नहीं आता है कि बाड़ों से घिरा हुआ मनुष्य अपने-आप से घिर जाता है। अपने-आपको संकुचित बना डालता है। बाड़ों को तोड़ गिराने का कार्य किसी को क्रान्तिकारी लग सकता है, है तो यह क्रान्तिकारी कदम जो हमें अपने आपसे शुरू करना होगा। आगे चलकर इसकी परिधि बढ़ते रहती है। मनुष्य जाने-अनजाने ही अपने ईर्दीर्घ बाड़े रखते हुए चले जाता है। इनका स्वरूप अंहंकार और दूसरों के प्रति ईर्ष्या और द्वेष भरा होता है। प्रतियोगिता भरा होता है। इसका रूप तमगे या पुरस्कार, पदाधिकार या प्रतिष्ठा, समिति या सहूलियतें इस प्रकार का होता है। साहित्यिक को चाहिए कि वह इन प्रलोभनों से बचे अन्यथा वह कूपमंडूक की तरह होगा। गाँधी जी का साहित्य विषयक चिन्तन हमें इस बात के प्रति आगाह करता है कि सत्य और प्रेम के अलावा दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। गाँधी जी की भाषा में इसे सत्य और अहिंसा की राह कहा जा सकता है। अपने-आपको शून्य बनाए बगैर प्रेम की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से करना सम्भव ही नहीं होता है। गाँधी जी ने साहित्य के क्षेत्र को प्रेमक्षेत्र के रूप में घोषित किया है। आचार्य विनोबा जी ने इसे इसी नाम से पहचाना। हम अपने क्षेत्र को विस्तारित करते चलें तो राह पाई जा सकती है।

गाँधी जी की राय है कि साहित्य को किसी विशेषण में बँधना और उसे उस विशिष्ट विधा या प्रवाह का साहित्य मानना साहित्य की मूल और मुख्य धारा को संकुचित करना है। वह नागर या अनागर इस प्रकार का नहीं है। वह आदिवासी या गैर-आदिवासी इस प्रकार का नहीं है। वह दलित और दलितेतर इस प्रकार का नहीं है। वह महिलाओं का या पुरुषों का इस प्रकार का नहीं है। इन विशेषणों से साहित्य सीमित होता जाएगा। मर्यादित हो जाएगा। साहित्य तो सीमाओं को लाँचने की सिखावन देता है। साहित्य तो सबको मुक्त रूप में स्वीकारने का आग्रह धरता है। साहित्य सबका उन्मुक्त रूप में स्वीकार ही तो है। जिस साहित्य को समृद्ध और सम्पन्न होना है उसे अपना क्षेत्र विस्तार करना होगा। विश्वस्तर पर पहुँचने का यह मार्ग है।

गाँधी जी का चिन्तन है कि साहित्य परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए। साहित्य किसी तत्त्व या वस्तु की शरमिन्दगी को अनुभव न करे। साहित्य की अपनी चेतना है। साहित्य का अपना आँगन है। साहित्य का अपना आकाश है। साहित्य की अभिव्यक्ति की आड़ में आने वाले हर प्रकार के प्रलोभन को ठुकराने का बोध और भाव साहित्य की और साहित्यकार की शक्ति है। वह किसी के सामने न झुकेगा न हारेगा, न बिकेगा न गिरवी रखा जाएगा। साहित्य किसी कीमत पर अपना वजूद नहीं खोएगा। वह नियमों का पालन करेगा। अपने ईमान को कायम बनाए रहेगा। व्यवस्था और प्रशासन की हर भूल-गलती को ऊँची आवाज में कहेगा। गलत कदम का जमकर विरोध करेगा। किसी गलती की ओर आनाकानी करना या दुर्लक्ष करना उससे नहीं सधेगा। वह अचूक भाषा में अपनी बात करने में कभी नहीं चूकेगा। वह ऐन मौके पर मौन का पालन नहीं करेगा। यह विषय हमारी इयत्ता के बाहर का है ऐसा कहकर चुप्पी नहीं साध लेगा। इससे व्यक्ति और साहित्य दोनों ही अपनी अस्मिता को खो देंगे। अपने सम्मान से वंचित हो जाएँगे। नैतिक दृष्टि से अधःपतित हो जाएँगे। दूसरों को हीन बनाएँगे। दूसरे के सम्बन्ध में तुच्छता का विचार करने वाला कोई व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपनी शान नहीं बचा सकता। नैतिक दृष्टि से सम्मानित नहीं हो सकता। दूसरों को हीन बनाने वाला व्यक्ति अपने जीवन और जीवनादर्शों की स्थापना कदापि नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति हमेशा अधोगामी होता है। साहित्य हो या कला, संस्कृति हो या नाट्य इन विषयों से समृद्ध हर प्रकार का चुनाव स्वतन्त्र रूप से किया जाना चाहिए यह गाँधी दृष्टि है।

गाँधी जी सोचते हैं और सही सोचते हैं कि क्या हमारे शिष्ट साहित्य का प्रचार-प्रसार उस हट तक हो गया है जिस हट तक होना चाहिए? अगर नहीं हुआ है तो उसकी वजह क्या है? क्या हमारा साहित्य अपने शहरों की सीमाओं को लाँघकर गाँव-गाँव तक पहुँच पाया है? क्या वह खेत की मेड़ों पर पहुँच पाया है? हमारे साहित्य का क्षेत्र और उसका विषय हमारे शहरों तक मर्यादित है। मध्यवित्तीय जनों तक मर्यादित है। आज क्या हम आदिवासी, दलित, मुस्लिम समाज का यथातथ्य चित्रण कर पाए हैं? क्या महिलाओं के तमाम प्रश्नों का हमारी प्रतिभा ने स्पर्श कर लिया है?

जो अपने-आपको साहित्यिक मानता है उसकी जिम्मेदारी है कि वह उन तमाम वर्गों का प्रतिनिधित्व करे जो समाज के अंगोपांग हैं। उनसे हृदय से संवाद करने की कितनी तत्परता उसने दिखाई है? यह गाँधी जी की नजरों में अहम प्रश्न है। लेखक की लेखनी के माध्यम से जन-जन का हर्ष-शोक, वेदना-आनन्द, आशा-आकांक्षा, मनोकामना-मनोरथ प्रकट होने चाहिए। क्या हमारा आज का साहित्य और साहित्यिक सफल हुआ है? यह गाँधी जी के जमाने का प्रश्न आज भी उतना ही मुखर और प्रत्ययकारी है। आज भी क्या हम इस दिशा में अग्रसर हो पाए हैं? गाँधी जी के साहित्य के सम्बन्ध में चिन्तन की यह दिशा इस प्रकार से हमें झकझोर कर रख देने वाली है।

गाँधी जी के विचारों में साहित्य का क्षितिज विस्तृत होना चाहिए। उसे विश्व साहित्य तक पहुँचाना वे जरूरी मानते रहे। इसके लिए उन्होंने कठोर आत्मपरीक्षण का मार्ग सुझाया। उदात्तता का आग्रह धरा। स्वच्छ जीवन-दर्शन की बात कही। उदारमनसु होने के रहस्य को समझाया। भाषा को प्रभावित करने वाले तीन तत्त्वों की बात उन्होंने बाबार की है। भाषा की प्रभविष्णुता बनाए रखने के लिए व्यक्ति का ज्ञान, अनुभव एवं संस्कार की बात महत्वपूर्ण है। ज्ञान तो व्यक्ति गुरु से पाता है। अनुभव अपने पिता से, लेकिन संस्कारों का आदान-प्रदान तो माता करती है। इसके माध्यम से हम एक-दूसरों के सुख-दुःखों के प्रति संवेदनशील बनेंगे यह उनका निकष है। साहित्यिक को चाहिए कि वह प्रजा के सुख-दुःखों के साथ संवाद स्थापित करें। गम्भीर प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी जिम्मेदारी के भाव को समझें। अपनी जिम्मेदारी का दर्जा बढ़ाएँ। गाँधी जी की शैली में कहा जा सकता है जो साहित्यिक प्रजा के पाप-पुण्यों को अपने पाप पुण्यों का दर्जा दे सकता है वह और वही प्रजा का साहित्यिक कहलाया जा सकता है। किसी सरोवर का जल चाहे जहाँ से लिया जाए लेकिन उस सरोवर के जलस्तर में कमी आती है। उसी प्रकार से समाज के किसी भी प्रकार के पातक की जिम्मेदारी पूरे समाज की होती है। कुछ-न-कुछ अंशों में ही क्यों न हो लेकिन होती अवश्य है। सामाजिक पातक के प्रति साहित्यिक अपनी जिम्मेदारी समझाकर अपना प्रतिभाव व्यक्त करें। इसके लिए आत्मशक्ति के जागरण की दिशा में प्रयत्न करने होंगे।

गाँधी जी के विचारों में राजसत्ता की तुलना में साहित्य अधिक शाश्वत है। राजा भोज की तुलना में कालिदास सबको स्मरण हैं। सप्राट अकबर की तुलना में गोस्वामी तुलसीदास हम सबको प्रकाश देते हैं। राजा और महाराजाओं की तुलना में इस धरती पर जिनकी अधिसत्ता है ऐसे लोगों में साहित्यिकों के नाम लिए जाते हैं। गाँधी जी की राय है कि साहित्यिकों को समाज के जलते-सुलगते प्रश्नों की ओर ध्यान देना चाहिए। साहित्य कर्मशील साधकों को बल प्रदान करता है। साहित्यिकार की ललित मधुरता और कर्मयोगी की तेजस्विता इनका सुमधुर मिलन जीवन को एक नई राह देता है। दोनों के पारस्परिक सहयोग के कारण साहित्य और कर्मयोगी दोनों का मार्ग विकसित होगा। दोनों के सहयोग के बिना साहित्य निस्तेज और कर्मयोगी संस्कारिता में कम मालूम होंगे। समाज की वेदना साहित्य में जब स्थान पाती है तब

साहित्य और समाज दोनों एक-दूसरे के लिए बलदायी सिद्ध होते हैं। साहित्य प्रशासन एवं शासन की तुलना में अधिक लोगों तक पहुँच सकता है। यह प्रक्रिया जब जारी रहेगी तब साहित्य की प्रभविष्णुता सामने आएगी। यह कार्य सत्य की आराधना से सम्पन्न हो सकेगा। गाँधी जी इस प्रकार से साहित्य की शाश्वत मूल्यवत्ता का विचार सामने रखकर चलते हैं। साहित्य की गुणों की चर्चा का यह अध्याय काफी दीर्घ हो सकता है लेकिन उसका मूलाधार सत्य की साधना ही है।

गाँधी जी का विन्तन मानता है कि सत्यनिष्ठ साहित्यिक सत्याधिष्ठित साहित्य की रचना कर सकते हैं। साहित्य की मूल धारणा इस प्रकार से सत्य की पूजा है। साहित्य की मूल्यनिष्ठा के आधार यों सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, नेकी पर अवलम्बित है। साहित्य का विचार अपने आपके बारे में प्रामाणिक और समाज के सम्बन्ध में सूक्ष्म भावग्राही होना चाहिए। साहित्य विविधता का विचार तो करता ही है लेकिन उसमें स्थित एकता को परखता है। इसलिए कोई कठिन उग्र तपाचरण करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए हमारी समझ को विकसित करना आवश्यक होता है। भारतीय साहित्य में प्रतिपादित विविधता का आधार यों विविध शैली, रूप, आकार एवं अभिव्यक्ति आदि तमाम क्षेत्रों को स्पर्श कर चलता है। विविधता के अध्ययन का आधार उसमें स्थित एकता की साधना का विचार है। एकता की परख करना है। मराठी के सन्त नामदेव सात सौ सालों पूर्व ठेठ पंजाब तक अपनी कविता की पताका फहराते हुए दिखाई देते हैं। दो-ढाई शतकों पूर्व के गुजराती भाषा के कवि गुजराती में पद लिखने के साथ हिन्दी में अपनी एक रचना अवश्य लिखते, यह अपने ढंग की गुजराती और अपने ढंग की हिन्दी का सुन्दर रूप होता। इस विविधता में एकात्मता के दर्शन होते। इन साहित्यिकों ने आखिरी आदमी से संवाद स्थापित किया है। साहित्य का एक पक्ष अपनी-अपनी भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान भी है। गाँधी जी हमेशा कहा करते थे कि जो समाज में स्थित भलाई को जगाता है उसे कवि माना जाए।

कृष्ण कृपलानी जी ने गाँधी जी के प्रातिभ रूप की मीमांसा करते हुए कहा है—“अगर प्रतिभा शब्द का प्रयोग करना ही हो तो हम कहेंगे कि गाँधी जी की प्रतिभा इसमें थी कि वे निरन्तर, भयभीत हुए बिना और धके बिना, कष्ट उठाकर भी एक कभी न थमने वाली नैतिक प्रेरणा का पालन करते रहते थे। युवावस्था की दहलीज लौंगने के बाद उनका पूरा जीवन एक क्षण विश्राम किए बिना भी सत्य की खोज का एक लम्बा अभियान था—ऐसे सत्य का जो ‘अनादि और अनन्त’ था, जो अमूर्त या तत्त्व मीमांसी सत्य नहीं बल्कि ऐसा सत्य था जिसे मानव सम्बन्धों में ही साकार किया जा सकता था। वे एक-एक कदम आगे बढ़े और कोई कदम दूसरे मनुष्यों के कदमों से बड़ा नहीं था और फिर हमने उन्हें ऐसी ऊँचाई पर देखा जहाँ वे महामानव दिखाई देते थे।...अगर गाँधी जी आखिर में किसी दूसरे इन्सान से भिन्न दिखाई देते थे तो हम यह भी याद रखें कि आरम्भ में वे भी किसी भी दूसरे इन्सान जैसे ही थे” (गाँधी :

एक जीवनी, कृष्ण कृपलानी, मूल अँग्रेजी का ग्रन्थ, हिन्दी अनुवादक, नरेश ‘नदीम’; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण 1983, पृष्ठ संख्या 199, मूल्य 55; प्रस्तुत, सन्दर्भ का पृष्ठ क्रमांक 14)

गाँधी जी ने जो साहित्य लिखा उसके स्वरूप को समझ लेना भी जरूरी है। पारम्पारिक अर्थ एवं अभिव्यक्ति का विचार करते हुए वे लेखक नहीं हैं। वे लेखन का काम करने वाले नहीं हैं। हाँ, वे काम का लेखन करने वालों में से एक हैं। उन्होंने जो लिखा वह आन्तरिक उद्देशन के रूप में प्रकट हुआ है। वह काम की अनिवार्यता के रूप में प्रकट हुआ है। वह उनकी आवश्यकता को ध्यान में लेकर प्रकट हुआ है। वह संवाद साधने की विकल आवश्यकता के रूप में प्रकट हुआ है। वह न कहे जाने की वेदना के माध्यम से प्रकट हुआ है। उनका लेखन एक सृजन की आवश्यकता नहीं उनके कथन की अनिवार्यता का प्रतिफल है। उन्होंने जो कहा और जो लिखा वह कहे बिना या लिखे बिना वे रह ही नहीं सकते थे, इसलिए कहा-लिखा गया है। यह ध्यान में लेने पर इसका मर्म हमारी समझ में आ सकता है। किसी लेखक के ठाठ एवं नाज नखरे के साथ उनके लेखन की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। वे निरन्तर एक आत्मशोध के निमित्त लिखते रहे हैं। वे अपनी बात करने का कोई माध्यम चुनने की कोशिश में लिखते रहे हैं। बोलते रहे हैं। यह लिखना या बोलना उनके लिए एक आवश्यकता है। एक अनिवार्यता है। एक अपरिहार्यता है।

गाँधी जी ने जीवन और अभिव्यक्ति के लगभग सभी क्षेत्रों में अपने स्वतन्त्र चिन्तन एवं विचारों की छाप छोड़ी है। दक्षिण अफ्रीका में और उसके पूर्व विलायत के अध्ययन काल में उन्होंने व्यापक पठन किया। कारावास काल का समय तो उन्होंने विश्वविद्यालयीन छात्र की तरह ही बिताया। अनेक भाषाओं को सीखने की कोशिश की। अनेक सुहृदों से संवाद साधा। अनेक ग्रन्थों का संकलन किया। अनेक ग्रन्थों का लेखन किया। बहुत व्यापक मात्रा में पत्र लेखन किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र स्थान निर्माण किया। गाँधी जी ने दुनिया-भर के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद कार्य सम्पन्न किया। अनेक स्वनामधन्य साहित्यर्थियों से संवाद साधा। साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से अपने विचारों का प्रतिपादन किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कवि थे तो गाँधी जी अपने-आपमें एक कविता थे। वे स्वयं अपने-आपको ‘कला कोविद’ कहलाते थे। दुनिया गाँधी जी की अँग्रेजी भाषा और लेखन-शैली पर मुग्ध थी। अनेक विद्वानों ने उनकी अँग्रेजी भाषा को बाइबिल से समतुल्य माना है।

गाँधी जी की सर्वव्यापक एवं सर्वस्पशी भूमिका का ही यह परिणाम रहा कि उन्होंने दक्षिण की भाषाओं को खुद सीखा। उन पर अधिकार पाया। दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए ‘दक्षिण भारतीय हिन्दी प्रचार समिति’ की स्थापना की। इस देश को जोड़ने वाली भाषा के रूप में हिन्दी का गौरव बढ़ाने वाले गाँधी जी की अपनी मातृभाषा गुजराती रही। ‘राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है’ यह उनका वाक्य उनके भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है। अपने

समय में गाँधी जी के द्वारा विदेशी अफसरों से किए हुए पत्र-व्यवहार की भाषा एवं शैली उनके साहित्य चिन्तन का एक अनोखा नमूना पेश करती है। यह उनके लेखन का एक सहज-सरल साहित्यिक रूप है। वे अध्यापक के समान समझाऊ-बुद्धाऊ शैली में अपनी बात करते हुए दिखाई देते हैं। धर्म, नीति और अध्यात्म के समान शब्दों को उन्होंने लगभग वैकल्पिक रूप में स्वीकारा और प्रयुक्त भी किया। उनकी साहित्य विषयक मान्यता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ‘सामाजिक मंगलेच्छा’ कह कर पुकारा जा सकता है। गाँधी जी ने भारतीय साहित्य को विविध कोणों से समृद्ध किया। उनके आनंदोलन की सरिताओं के तट पर साहित्य के भव्य और नव्य तीर्थ स्थापित हुए।

एक लेखक के रूप में गाँधी जी जो पढ़ते थे उस पर कितना अमल करते थे उसका एकमात्र उदाहरण यहाँ देना उपयुक्त होगा। गाँधी जी ने एक यात्रा में रस्किन के ‘अनटू दिस लास्ट’ नामक ग्रन्थ को पढ़ा और उससे प्रभाव ग्रहण किया। उनके मन में पहले से विद्यमान चिन्तन को इस पठन से दिशा मिली। इसका तफसीलवार ब्यौरा देते हुए वे लिखते हैं : ‘मैं ‘सर्वोदय’ के सिद्धान्तों को इस प्रकार समझा हूँ :

1. सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।
2. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।
3. सादा मेहनत-मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज मैं जानता था। दूसरी को मैं धृुधले रूप में देखता था। तीसरी का मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। ‘सर्वोदय’ ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज में दूसरी दोनों चीजें समाई हुई हैं। सर्वरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तों पर अमल करने के प्रयत्न में लगा।’ (सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, संस्करण सितम्बर 2010, नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद, मूल्य 30 रुपए, पृष्ठ 454, सन्दर्भ पृष्ठ 271)

गाँधी जी के आरम्भिक लेखन की चर्चा करते हुए उनके ‘हरे परचे’ का विचार किया जाना जरूरी है। पुण्यात्मा और पापी, दोनों को अच्छी तरह कोई काम करने पर सुख का एक समान अनुभव होता है। सार्वजनिक जीवन और पेशे, दोनों में गाँधी जी अधिकाधिक अपना स्थान बनाते जा रहे थे। उनका काम नेटाल के भारतीय समुदाय के लिए भारी महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहा था जो हर कठिनाई में मार्गदर्शन और सहायता के लिए उनकी ओर देखता रहता था। इतना ही नहीं, वे भी खुद की आत्मा को विशालकाय होते देख रहे थे। इसलिए उनको यह विश्वास होते देर नहीं लगा कि भविष्य उनके लिए चाहे जो कुछ लेकर आए, आने वाले कुछ वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका ही उनकी कर्मभूमि होगा।

कुछ भी हो, वे अब उस लक्ष्य को नहीं छोड़ सकते थे जिसे उन्होंने खुद बड़े जोश-खरोश से उठाया था और वे सभी व्यावहारिक दृष्टियों से जिसके एकमात्र नहीं तो प्रमुख प्रवक्ता और नेतृत्वकर्मी अवश्य थे। वे अपने योगदान के प्रति सजग थे और

फिर भी विनप्रता से इसका आकलन करते थे। उन्हें इसका गर्व था कि वे एक शुभ ध्येय के लिए कार्य कर रहे थे विनप्रता के साथ समझते थे कि वे उस ध्येय के एक अपर्याप्त साधन हैं। यही उनके पूरे जीवन का खास दृष्टिकोण बना रहा।

यह दृष्टिकोण उस पहले पत्र में ही स्पष्ट था जो उन्होंने 5 जुलाई 1894 को दादा भाई नौरोजी के नाम लिखा था जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार और जनता के सामने भारतीयों का पक्ष प्रस्तुत करने में उनकी सहायता माँगी थी। इसमें उन्होंने मताधिकार विधेयक के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट किया था और अपनी सुबोध और अर्थपूर्ण शैली में नेटाल के यूरोपीय समुदाय के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रस्तुत किया था : “हम यहाँ अब और हिन्दुस्तानी देखना नहीं चाहते। हम कुली चाहते हैं, मगर वे यहाँ गुलाम रहेंगे और जैसे ही आजाद होंगे, भारत चले जाएँगे।” फिर उन्होंने अपने देशवासियों के प्रवक्ता के रूप में अपनी भूमिका को स्पष्ट किया है : “दो शब्द मेरे और जो कुछ मैंने किया है उसके बारे में। मैं अभी भी अनुभवहीन और छोटा हूँ और इसलिए बहुत सम्भव है कि मैं गलतियाँ कर बैठूँ। यह जिम्मेदारी मेरी योग्यता से कहीं बहुत अधिक है। मैं यह भी लिख दूँ कि मैं यह सब बिना किसी पारिश्रमिक के कर रहा हूँ। इसलिए आप पाएँगे कि मैंने विषय को जो मेरी योग्यता से बाहर है, इसलिए नहीं उठाया है कि मैं भारतीयों की कीमत पर खुद धन बटोरना चाहता हूँ। मैं यहाँ एकमात्र उपलब्ध व्यक्ति हूँ जो इस सवाल को निबटा सकता है। इसलिए अगर आप मुझे कृपा करके रास्ता दिखाएँ और आवश्यक सुझाव दें तो यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा एहसान होगा। मैं उनको बच्चे के लिए पिता के सुझाव समझकर स्वीकार करूँगा।”

अब तक तीन बरस हो चुके थे। अगर गांधी जी को अनिश्चित काल तक दक्षिण अफ्रीका में रहना था तो जरूरी था कि वे भारत से अपना परिवार ले आएँ। इसलिए उन्होंने देश जाने के लिए अपने साथियों और सहकर्मियों से छह माह का अवकाश माँगा। उन्होंने प्रार्थना की कि वे भारत में बिताए गए समय का उपयोग करके जनता को दक्षिण अफ्रीका में रह रहे उनके देशवासियों के दुःखों से परिचित कराएँगे। जून 1896 में वे डरबन से जहाज में चले।

अपने देशवासियों की प्रार्थना पूरी करने के लिए उन्होंने यात्रा के दौरान एक तथ्यात्मक विवरण लिखा जिसका नाम उन्होंने ‘दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश भारतीयों की शिकायतें’ रखा। इसे उन्होंने देश पहुँचकर प्रकाशित कराया। परचे के आवरण के रंग के कारण इसी का नाम ‘हरा परचा’ पड़ा। इसकी दस हजार प्रतियाँ छापी गईं। भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने इसका व्यापक प्रचार किया और इस पर टिप्पणियाँ कीं। पहला संस्करण जल्द ही बिक गया और दूसरा छापना पड़ा।

गांधी जी का वर्णन गम्भीर और संयमपूर्ण था। यह हमेशा की तरह असत्य, घृणा या किसी प्रकार की अतिशयोक्ति से पाक-साफ था। उन्होंने ऐसी बात नहीं कही थी जो उन्होंने डरबन में बहुत पहले प्रकाशित ‘खुली चिट्ठी’ में नहीं कही थी। वास्तव

में, उनके पूरे जीवन में उनकी राजनीतिक आस्था का जो बुनियादी तत्व रहा। यह यहाँ इस बयान में स्पष्ट था : ‘दक्षिण अफ्रीका में हमारा तरीका प्रेम से इस घृणा पर विजय पाने का है’ दुर्भाग्य से, रायटर ने इसकी एक भ्रष्ट और विकृत रिपोर्ट भेजी जिसने नेटाल के यूरोपियों में काफी गलतफहमी पैदा की। उन्हें विश्वास हो चला कि उनकी अनुचित निन्दा और मानहानि की गई है। आगे चलकर इसके दुःखद परिणाम हुए।

गाँधी जी ने कुछ समय अपने गृह नगर राजकोट में बिताया। यहाँ उनका दुर्दमनीय उत्साह हरे परचे की छपाई और उसे दूसरों को भेजने के अलावा अनेक गतिविधियों के रूप में सामने आया।

गाँधी जी अभी कलकत्ता में थे। वहाँ एक जन सभा को उनके द्वारा सम्बोधित किए जाने की उम्मीद थी, तभी उन्हें डरबन से एक तार मिला कि वहाँ उनकी मौजूदगी फौरन जरूरी थी। इसलिए वे शीघ्रता से मुम्बई पहुँचे। वहाँ से अपनी पत्नी और बच्चों के साथ दिसम्बर के शुरू में वे कूरलैंडर जहाज पर चल पड़े। लगभग उसी समय एक और जहाज रवाना हुआ जो नेटाल और ट्रान्सवाल के लिए भारतीय यात्री ले जा रहा था। दोनों जहाज दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में डरबन पहुँचे। उनको फौरन जब्त कर लिया गया।

हरे परचे के बारे में रायटर ने अपनी विकृत रिपोर्ट भेजी थी। इस कारण डरबन के गोरे निवासियों को वह लेखन गाँधी जी का सोच-समझकर किया गया निन्दा-अभियान लगा था। इस कारण वे गुस्से से उबल रहे थे। इसके बाद एक और निराधार आशंका जागी थी जिसने आग में घी का काम किया था कि गाँधी जी अपने साथ दो जहाजों में भरकर भारतीय आप्रवासियों को लाए थे। फिर तो भयानक सभाएँ हुईं जिनमें गोरे वक्ताओं ने धमकी दी कि अगर ये यात्री वापस नहीं जाते तो उन सबको वे समुद्र में फेंक देंगे। एक लालच भी दिया गया कि अगर वे भारत लौट जाएँगे तो उनको वापसी का भाड़ा भी दिया जा सकता है।

किन्तु भारतीय यात्रियों पर किसी धमकी या किसी फुसलावे का कोई असर नहीं पड़ा। न ही दादा अब्दुल्ला एंड कम्पनी पर कोई असर पड़ा। मजबूरी की वजह से जहाज पर ही क्रिसमस मनाना पड़ा। जहाज के कप्तान ने एक भोज दिया। उसके बाद गाँधी जी ने पश्चिमी सभ्यता विषय पर एक भाषण दिया। तेईस दिनों के बाद जहाजों को बन्दरगाह में घुसने की इजाजत मिली और सारे मुसाफिर बिना किसी नुकसान के उत्तर गए। जैसे ही गाँधी जी नीचे उतरे, पहचान लिये गए। देखते-ही-देखते एक भीड़ चीखते-चिल्लाते और गालियाँ बकते हुए उनके चारों तरफ जमा हो गई। गाँधी जी पर पत्थरों, ईटों के टुकड़ों और सड़े अंडों की बारिश होने लगी। उनकी पगड़ी खींच ली गई और उन पर धूंसों, थप्पड़ों और लातों से प्रहार किया गया। गाँधी जी बेहोश हो गए। खतरा टला नहीं था। खून का स्वाद चख चुकी पागल भीड़ और खून माँग रही थी। अपने शिकार को खोकर चिंघाइती हुई भीड़ ने रुस्तम जी के मकान को घेर लिया और चिल्लाने लगी : “गाँधी को हमारे हवाले करो।” पुलिस

अधीक्षक को विश्वास नहीं था कि वह उस वहशी भीड़ को देर तक काबू में रख पाएगा। इसलिए उसने घबराकर गाँधी जी को सन्देश भेजा कि अगर रुस्तम जी के मकान और उसके निवासियों के जीवन को बचाना है तो वे भेस बदलकर वह घर छोड़ने पर राजी हों। इसलिए गाँधी जी चुपके से एक भारतीय कांस्टेबिल के रूप में घर से बाहर निकल गए। उनके साथ दो गुप्तचर भी थे और वे भी भेस बदले हुए थे।

यहाँ गाँधी जी के राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में विचारों को जान लेना समीचीन होगा। उन्होंने बार-बार अलग-अलग प्रसंगों में बराबर इस प्रश्न के बारे में अपने चिन्तन को स्पष्टता दी है। उसका सार-संकलन स्वयं उन्हीं के शब्दों में विना किसी टिप्पणी के अविकल रूप में देना ही उस विषय के साथ न्याय करना होगा। इस विचार से इस संकलन को जैसा-का-तैसा ही यहाँ दिया जा रहा है।

राष्ट्रभाषा के बारे में गाँधी जी का चिन्तन था : “हमारी भाषा हमारा ही प्रतिविम्ब होती है, और यदि आप मुझसे यह कहते हैं कि हमारी भाषाएँ इतनी अशक्त हैं कि उनके द्वारा सर्वोत्तम विचार व्यक्त नहीं किए जा सकते तो मैं यह कहूँगा कि हमारा अस्तित्व जितनी जल्दी समाप्त हो जाए उतना ही हमारे लिए अच्छा होगा। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कल्पना करता हो कि अँग्रेजी कभी भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? राष्ट्र पर यह मुसीबत क्यों डाली...मुझे पूना के कुछ प्राध्यापकों के साथ घनिष्ठ बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने मुझे यह विश्वास दिलाया कि हर एक भारतीय युवक, चूंकि वह अँग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाता है, अपने जीवन के कम-से-कम छह बहुमूल्य वर्ष व्यर्थ गँवा देता है। इस संख्या को हमारे स्कूलों तथा कालेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की संख्या से गुणा कीजिए और फिर स्वयं यह पता लगाइए कि राष्ट्र ने कितने हजार वर्ष गँवा दिए हैं। हमारे ऊपर आरोप यह लगाया जा रहा है कि हमारे अन्दर आगे बढ़ने की शक्ति नहीं है। हमारे अन्दर यह शक्ति हो ही कैसे सकती है जबकि हमें अपने जीवन के बहुमूल्य वर्षों को एक विदेशी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने में लगा देना पड़ता है? इस प्रयास में भी हम विफल हो जाते हैं।

“वास्तव में, हम अँग्रेजी पर कभी अधिकार नहीं प्राप्त कर पाते, कुछ थोड़े-से लोगों को छोड़कर हम लोगों के लिए ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका है। हम अँग्रेजी में अपनी भावनाओं को उतनी अच्छी तरह कभी व्यक्त नहीं कर सकते जितनी अच्छी तरह अपनी मातृभाषा में। हम अपने बचपन के सारे वर्षों की याद कैसे भूल सकते हैं? पर जब हम अपनी उच्चतर शिक्षा, जैसा कि हम उसे कहते हैं, एक विदेशी भाषा के माध्यम से शुरू करते हैं तब हम ठीक यही काम करते हैं। इससे हमारे जीवन का क्रम भंग हो जाता है जिसके लिए हमें बहुत भारी मूल्य चुकाना होगा।

“मैंने लोगों को यह कहते सुना है कि अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय ही नेतृत्व कर रहे हैं तथा देश के लिए सभी काम कर रहे हैं। यदि ऐसी बात न होती तो बहुत ही बुरा होता। जो शिक्षा हमें मिलती है वह मात्र अँग्रेजी शिक्षा ही है। हमें उसका कुछ-न-कुछ फायदा तो अवश्य दिखाना चाहिए। लेकिन मान लीजिए कि हमें पिछले

पचास वर्षों में अपनी भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा मिली होती तो आज स्थिति क्या होती। आज भारत स्वतन्त्र होता। हमारे शिक्षित लोग अपने ही देश में विदेशियों जैसे न होते वरन् उनकी वाणी देश के हृदय को छूती गरीब-से-गरीब लोगों के बीच वे काम करते और पिछले पचास वर्षों में वे जो कुछ हासिल करते वह राष्ट्र की एक विरासत होती। आज हमारी पत्नियाँ तक हमारे अच्छे-से-अच्छे विचारों में शरीक नहीं हो पातीं। प्रौफेसर बसु और प्रोफेसर राय तथा उनके शानदार अनुसन्धानों पर दृष्टिपात कीजिए। क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि आम जनता को उनके अनुसन्धानों के बारे में कोई जानकारी नहीं है।

“हम समाज की सबसे बड़ी सेवा यह कर सकते हैं कि अँग्रेजी भाषा के ज्ञान-प्राप्ति को हम जो झूठा महत्व देना सीख गए हैं, उससे अपने को तथा समाज को मुक्त करें। हमारे स्कूलों और कालेजों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी है। यह देश की राष्ट्रभाषा होती जा रही है। हमारे सर्वोत्तम विचार इसी भाषा में व्यक्त किए जाते हैं? अँग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता में विश्वास के कारण हम दास बन गए हैं? इसने हमें सच्ची राष्ट्रसेवा के अयोग्य बना दिया है? हम आम जनता से अलग हो उनसे आम जनता को कोई फायदा नहीं हुआ है? पिछले 60 वर्षों से ज्ञान संचय करने के बजाय हम नए-नए शब्दों तथा उनके उच्चारण रटने में लगे रहे हैं? हमने अपने माता-पिता से प्राप्त ज्ञान की नींव पर निर्माण करने के बजाय उसे लगभग भुला दिया है? इतिहास में इस तरह का और कोई उदाहरण नहीं मिलता? यह राष्ट्र का दुर्भाग्य है।

“हम समाज की पहली तथा सबसे बड़ी सेवा यह कर सकते हैं कि हम अपनी देशी भाषाओं को पुनः अपनाएँ, हिन्दी को उसके राष्ट्रभाषा के स्वाभाविक पद पर फिर से प्रतिष्ठित करें और अपने समस्त प्रान्तीय कार्यों को अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं में तथा राष्ट्रीय कामों को हिन्दी में करना शुरू करें। जब तक हमारे स्कूल तथा कालेज हमें देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा नहीं देने लगते तब तक हमें चैन से नहीं बैठना चाहिए।

“आज अँग्रेजी का अध्ययन उसके व्यापारिक एवं तथाकथित राजनीतिक महत्व के कारण किया जाता है। हमारे लड़के यह सोचते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में उनका यह सोचना सही भी है कि अँग्रेजी के बिना उन्हें सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती। लड़कियों को अच्छी शादी के लिए अँग्रेजी पढ़ाई जाती है। मैं ऐसी अनेक स्त्रियों को जानता हूँ जो अँग्रेजी इसलिए सीखना चाहती हैं जिससे वे अँग्रेजों से अँग्रेजी में बातें कर सकें। मैं ऐसे पतियों को भी जानता हूँ जो इस बात से दुःखी हैं कि उनकी पत्नियाँ उनसे तथा उनके मित्रों से अँग्रेजी में बातचीत नहीं कर सकतीं। ऐसे परिवारों को भी जानता हूँ जिनमें अँग्रेजी को मातृभाषा का रूप दिया जा रहा है।... देशी भाषाओं का कुछला जाना तथा उन्हें निर्बल बनाना जैसा कि उनके साथ हुआ है—मेरे लिए असह्य है। मैं इस बात को सहन नहीं कर सकता कि माँ-बाप अपने बच्चों को तथा पति अपनी पत्नियों को अपनी भाषाओं को छोड़कर अँग्रेजी में पत्र लिखें।

“यद्यपि मैंने पश्चिमी सभ्यता के प्रति अपने ऋण को खुले आम स्वीकार किया है तथापि मैं यह कह सकता हूँ कि राष्ट्र की जो कुछ भी सेवा मैं कर सका हूँ उसका एकमात्र कारण यह है कि जिस हद तक मुझसे बन पड़ा मैंने पूर्वी सभ्यता को अपने अन्दर कायम रखा। यदि मैं अँग्रेजियत में रँगा होता, राष्ट्रीय भावना से रहित होता और आम जनता के तौर तरीकों, आदतों, विचारों तथा महत्वाकांक्षाओं से अनभिज्ञ होता, उनकी कम परवाह करता और कदाचित् उनसे नफरत भी करता तो मैं आम जनता के लिए बिल्कुल बेकार साबित होता।

“जब कभी मैंने विद्यार्थियों की सभाओं में भाषण किया है, मुझे अँग्रेजी में बोलने की माँग पर आश्र्य हुआ है। आपको मालूम है अथवा होना चाहिए कि मैं अँग्रेजी भाषा का प्रेमी हूँ, लेकिन मेरी धारणा है कि यदि भारत के विद्यार्थी, जिनसे यह आशा की जाती है कि देश के लाखों-करोड़ों लोगों के साथ मिलकर काम करेंगे और उनकी सेवा करेंगे, अँग्रेजी की बजाय हिन्दी की ओर अधिक ध्यान दें तो वे इस काम के लिए ज्यादा योग्य बनेंगे। मैं यह नहीं कहता कि आपको अँग्रेजी नहीं सीखनी चाहिए, आप अवश्य सीखिए, लेकिन जहाँ तक मेरा विचार है वह करोड़ों भारतीय घरों की भाषा नहीं हो सकती। वह हजारों अथवा लाखों व्यक्तियों तक ही सीमित रहेगी, करोड़ों तक नहीं पहुँच सकती। अतः जब छात्रगण मुझसे हिन्दी में बोलने के लिए कहते हैं तब मुझे खुशी होती है।

“अब हम राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर विचार करें। यदि अँग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा होनी है तो उसे हमारे स्कूलों में एक अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिए। पहले हम इस बात पर विचार करें कि क्या अँग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है?

“हमारे कुछ विद्यान लोगों का, जो अच्छे देशभक्त भी हैं, कहना है कि इस प्रश्न को उठाना ही अज्ञान का घोतक है। उनकी राय में वह तो राष्ट्रभाषा है ही।

“सतही तौर पर विचार करने पर उक्त मत सही मालूम होता है। हमारे समाज के शिक्षित वर्ग को देखने से मालूम होता है कि अँग्रेजी के न रहने पर हमारा सारा काम ठप हो जाएगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि अँग्रेजी न तो हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है और न बननी चाहिए।

“आइए देखें कि किसी भाषा को राष्ट्रभाषा बनने के लिए क्या-क्या बातें जरूरी हैं—

1. सरकारी अधिकारियों के लिए उसका सीखना आसान होना चाहिए।
2. वह भारत भर में धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विचार-विनिमय का माध्यम बनने के योग्य होनी चाहिए।
3. वह अधिकांश भारतीयों द्वारा बोली जानी चाहिए।
4. समूचे देश के लोगों के लिए उसका सीखना सरल होना चाहिए।
5. इस भाषा का चुनाव करते समय अस्थायी अथवा क्षणिक हितों का खयाल नहीं रखा जाना चाहिए।

“अँग्रेजी इनमें से किसी भी शर्त को पूरा नहीं करती। तब वह कौन-सी भाषा है जो इन पाँचों शर्तों की पूर्ति करती है? हमे मानना पड़ेगा कि वह हिन्दी ही है।

“मुझे इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तानी समस्त भारतीयों के लिए सबसे उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होगी। आम जनता न तो फारसी भरी उर्दू आसानी से समझ सकती है और न संस्कृतनिष्ठ हिन्दी। ब्रिटिश राज के समाप्त होने पर बोलचाल के सामान्य माध्यम अथवा अदालती भाषा के रूप में अँग्रेजी नहीं रह सकती। यह तो कोरी अनधिकार चेष्टा है। मैं अँग्रेजी भाषा का उसके अपने स्थान पर आदर करता हूँ। वह भारत की राष्ट्रभाषा कभी नहीं हो सकती।”

प्रसिद्ध गायक श्री दिलीप कुमार राय ने बातचीत करते हुए सन् 1934 में गाँधी जी से कहा था कि “जीवन समस्त कलाओं में श्रेष्ठ हैं। वे तो समझते हैं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है? कला के मूल्य का आधार है जीवन की उन्नत बनाना। जीवन ही कला है, कला शब्द का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में हुआ है। साहित्य उससे बाहर नहीं है। कदाचित् ऐसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गाँधी जी ने कहा था कि वही काव्य और वही साहित्य चिरजीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।”

गाँधी जी के साहित्य को उन्हीं की मान्यताओं की परिधि में परखा जाना चाहिए। जिस प्रकार के साहित्य की कल्पना उन्होंने की है, उस प्रकार के साहित्य का सृजन वही कर सकता है जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया हो, अर्थात् जो उसे जीता हो। गाँधी जी की भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जो भली-भाँति जीना जानता है वही साहित्यकार है। निस्सन्देह गाँधी जी का विकास एक साहित्यिक के रूप में नहीं हुआ। उन्होंने कभी ऐसा दावा भी नहीं किया। परन्तु उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है। अनेक संस्मरण लिखे हैं। उन्हीं के आधार पर यदि उन्हें साहित्यकार माना जाए तो असंगत न होगा। वे अधिकतर गुजराती और अँग्रेजी में लिखते थे। इसलिए उन भाषाओं पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। गुजराती के विद्वान् उन्हें एक अनुपम गद्य शैलीकार मानते हैं। जिस समय गोलमेज परिषद् के अवसर पर उन्होंने लन्दन से अमरीका के लिए सन्देश प्रसारित किया था, उस समय विश्व उनकी सरल परन्तु अर्थगर्भित भाषा सुनकर विस्मित रह गया था। यद्यपि दूसरी भाषाओं में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित अवश्य किया है। उनकी शैली को अँग्रेजी का ‘बिल्लिकल’ शब्द ठीक-ठीक व्यक्त करता है। उसकी सरलता, संकेतप्रियता, संयत विनोदप्रियता, सुसूत्रता, संक्षिप्तता और सहज तार्किक गम्भीरता के कारण ही उसमें अपूर्व शक्ति समाई है। सबसे बढ़कर उनकी आत्मीयता के कारण उसमें जो पारदर्शिता आई है वह उनकी अपनी विशेषता है।

‘फुलॉप मिलर’ ने लिखा है, “किसी जमाने में बुद्ध के सम्मुख जिस तरह मानव-प्राणी की वेदना अपना अवगुण्ठन उठाकर खड़ी हो गई थी, उसी तरह अब वह

गाँधी के सामने खड़ी हो गई है। इसलिए वे अपनी भावनाएँ और शक्तियाँ ऐसे किसी उद्योग में खर्च नहीं कर सकते जो भूखों को खिलाने में, नंगों की काया ढाँपने में और दुखियों को ढाढ़स बँधाने में प्रत्यक्ष रूप से सहयोग न दे।” इसलिए वे कला, काव्य और साहित्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसते थे। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एक बार उन्होंने एक पत्र में लिखा था : “अपने काव्य के प्रति सच्चा रह कर यदि कवि आगमी कल के लिए जिन्दा रहता है और दूसरों को भी उस कल के लिए जीवित रहने का आदेश देता है, वह हमारे चकित चक्षुओं के सामने उन सुन्दर चिड़ियों के सुन्दर चित्र खींचता है जो उषा के आगमन पर महिमा के गीत गाती हुई शून्य में अपने रंगीन पंखों से उड़ान भरती हैं। ये चिड़ियाँ दिन-भर का अपना भोजन प्राप्त करती हैं और रात के आराम के बाद आकाश में उड़ती हैं। उनकी रगों में पिछली रात नए रक्त का संचार हो चुका है पर मुझे ऐसे पक्षियों को देखने से वेदना भी हुई है, जो निर्बलता के कारण अपने पंख फड़फड़ाने का साहस भी नहीं कर सकते। भारत के विस्तृत आकाश के नीचे मानव-पक्षी रात को सोने का ढोंग करता है। भूखे पेट उसे नींद नहीं आती और जब वह सुबह विस्तर से उठता है तो उसकी शक्ति पिछली रात से कम हो जाती है। लाखों मानव-पक्षियों को रात-भर भूख-प्यास से पीड़ित रहकर जागरण करना पड़ता है अथवा जाग्रत स्वज्ञों में उलझे रहना पड़ता है। यह अपने अनुभव की, अपनी समझ की, अपनी आँखों देखी, अकथ दुःखपूर्ण अवस्था और कहानी है। कबीर के गीतों से इस पीड़ित मानवता को सान्त्वना दे सकना असम्भव है। यह लक्षावधि भूखी मानवता हाथ फैलाकर, जीवन के पंख फड़फड़ाकर कराह कर केवल एक कविता माँगती है जिसका नाम है ‘पौष्टिक भोजन।’

अपने पुरुषार्थी विचारों के कारण सन् 1935 में गुजराती साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन के सभापति पद से स्वैरण साहित्य की निन्दा करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि जब वे सेवाग्राम और वहाँ के अस्थि-पंजर लोगों का खयाल करते हैं तो उन्हें अपना साहित्य निरर्थक मालूम होने लगता है। जिन शब्दों में और जिस शक्ति के साथ गाँधी जी ने भूखी मानवता के लिए पौष्टिक भोजन की माँग की है, साहित्य क्या कभी उससे ऊँचे स्तर पर उठा है? युग-युग से महान् आत्माओं का जो लक्ष्य रहा है क्या वही ‘मानव’ साहित्य का लक्ष्य आज के साहित्यकार के लिए शायद इस रूप में न हो, परन्तु गाँधी जी का लक्ष्य विशुद्ध रूप से यही था। उन्होंने साहित्य से छायावाद के स्वप्निल जगत को बहिष्कृत करके मानव-जीवन के यथार्थ को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा : “कला को जीवन से श्रेष्ठ मानने से तो जीवन का स्रोत ही सूख जाएगा। मेरे लिए तो सर्वश्रेष्ठ कलाकार वही है जो सर्वोत्तम जीवन व्यतीत करता है। जीवन व्यतीत करने की कला ही सर्वश्रेष्ठ कला है। मैं कला के प्रति नहीं, कला के थोथे बड़प्पन के अथवा अकड़ के प्रति आपत्ति उठाता हूँ। दूसरे शब्दों में, मैं यों कहूँ कि मेरे विचार में कला के ‘मूल्य’ भिन्न हैं।”

जीवन अर्थात् मनुष्य में उनकी इस अगाध आस्था का प्रमाण उनकी मान्यताओं से स्पष्ट हो जाता है। सत्य और अहिंसा से भिन्न वे कुछ नहीं थे। सत्य उनके लिए देवता की आराधना का प्रतीक था और अहिंसा मनुष्य में उनकी आस्था का। उनके व्यक्तिगत जीवन में जो स्थान सत्य का था वही स्थान अहिंसा का उनके सार्वजनिक जीवन में था। अर्थात् अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने एक क्षण के लिए भी मनुष्य में अपनी आस्था को नहीं डिग्ने दिया। वे अपने-आपमें स्वयं एक आन्दोलन थे। नेता थे। उनका लक्ष्य था स्वराज्य अर्थात् मनुष्य की स्वतन्त्रता।

उनका एक गुण जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वह है, संवेदना। उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक-से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा उन्होंने सदा की है। वे सम्बन्धित व्यक्ति की सहज भावनाओं को छूकर उस पर विजय प्राप्त करते थे। वे स्वयं मानव थे, दूसरों को भी मानव स्वीकार करते थे। वे न केवल विशेषणों का ही प्रयोग करते थे अपितु किसी व्यक्ति की दुर्बलता भी उनसे छिपी नहीं रहती थी। सत्य का उपासक व्यक्तित्व का अधूरा चित्रण कर ही नहीं सकता। गाँधी जी ने भारत के तत्कालीन नेताओं का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। उन्होंने अपने युग के महापुरुषों के साथ-साथ अपने सम्पर्क में आए हुए साधारण-से-साधारण व्यक्ति के बारे में भी लिखा है। गाँधी जी जहाँ पारखी थे, वहाँ विनोदप्रिय भी थे। उन्होंने कहा था कि यदि मैं विनोदप्रिय न होता तो कभी का मर गया होता। उनके लेखन में भी विनोद की फल्गु धारा कहीं-कहीं बड़ी सुन्दरता से उभर उठी है। उन्होंने मीठी चुटकी ली है, लेकिन व्यक्ति के प्रति सहज शिष्टता में कहीं कोई अन्तर नहीं आया। उन्होंने जीना सीखते-सीखते जिलाना सीख लिया था। वे सबसे पहले और सबके अन्त में केवल मनुष्य थे। गाँधी जी का साहित्य मनुष्य की खोज का साहित्य है। इसी कसौटी पर उसको परखा जा सकता है।

गाँधी जी ने शब्दों की मितव्यिता के बारे में जिस गहराई से सोचा और विचार किया वह अद्भुत है। दूसरे के प्रति भले बनने के लिए हम बहुत बार अत्यधिक मिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं जो सदैव सत्य के अनुरूप नहीं होती। स्वर्गीय के.जी. मश्वाला, तत्कालीन सम्पादक 'हरिजन' तथा गाँधी दर्शन के अन्यतम भाष्यकार, ने एक अमरीकी मिशनरी रिचर्ड राल्फ कीथन से, जिन्होंने भारत आगमन के तत्काल बाद भारत को अपना दूसरा घर बना लिया था, किसी समाचार-पत्र के नहीं अपितु एक विचार-पत्र (जैसा कि गाँधी जी अपने साप्ताहिक को कहा करते थे) के सम्पादक के विषाद का जिक्र करते हुए कहा था कि भारतीय संवाददाताओं की यह एक वाहियात आदत होती है कि वे अपने संवाद में अनेक और कभी-कभी भारी-भरकम विशेषणों का प्रयोग करते हैं। पश्चिमी देशों में यह एक खराब शैली समझी जाती है, क्योंकि विशेषण से संज्ञा कमज़ोर पड़ जाती है किन्तु गाँधीवादी दृष्टिकोण से यह

असत्य भाषण का स्पष्ट उदाहरण है। मश्रूवाला ने गाँधी जी के शब्दों को दोहराते हुए कहा—“मैं जितने ही अधिक विशेषणों का प्रयोग करता हूँ अपने लेखों तथा भाषणों में—मैं उतना ही अपने को मिथ्याभावी अनुभव करता हूँ।” गाँधी जी अलंकारों का सहारा लिए बिना सीधे-सादे गद्य में तथ्यकथन करने में सिद्धहस्त थे। वह सदैव न्यूनोक्ति, विशेषणों को टालने तथा ‘लेखन में भद्रता’ पर जोर देते थे। उनके एक सहकर्मी श्री चन्द्रशेखर शुक्ल ने उल्लेख किया है कि फरवरी, 1934 में, सलेम स्थित स्वर्गीय श्री विजय राधवाचारी के मकान पर उनकी गाँधी जी ने इसलिए भर्तसना की थी क्योंकि उन्होंने लन्दन में अगाथा हैरिसन को लिखे अपने साप्ताहिक पत्र ‘समाचार’ में कोरे तथ्य देने के बजाय शासन की आलोचना की थी। ऐसी समीक्षा को गाँधी जी ‘शब्द-चातुर्य’ कहते थे। उन्होंने श्री शुक्ल को इसलिए भी फटकारा था कि उक्त पत्र में उन्होंने जयाहरलाल नेहरू के लेख सम्बन्ध में ‘ब्रिलिएंट’ विशेषण का प्रयोग किया था, जो उनकी नजरों में नेहरू जी को दिया गया एक प्रमाण-पत्र था। गाँधी जी जिस उद्देश्य से लिखा करते थे वह था—“अपने विचारों का प्रसार करना केवल लेखन मात्र नहीं।” किन्तु उनका यह भी कहना था कि : “पाठक उस संयम से अभिज्ञ नहीं हो सकता जिस संयम का प्रयोग मुझे विषयांग तथा शब्दावली चुनने के लिए करना पड़ता है...। वहुधा मेरा दम्भ मुझे इस बात के लिए प्रेरित करता है कि मैं तीखी अभिव्यक्ति का प्रयोग करूँ तथा मेरा आकोश मुझे कटु शब्दावली का प्रयोग करने को बाध्य करता है। यह एक अग्नि परीक्षा होती है किन्तु इस घास-पात को निकाल फेंकने की एक अच्छी-खासी कसरत।”

यद्यपि गुजराती और अँग्रेजी को छोड़कर दूसरी भाषाओं में उन्होंने बहुत ही कम लिखा है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रभावित अवश्य किया है। उन्होंने कला और साहित्य को ग्रामोन्मुख कर दिया। उन्होंने युद्ध का विरोध करके सब धर्मों की समानता पर जोर दिया। और यही समानता उन्होंने मानव मात्र के लिए अनिवार्य कर दी। उनका युग इसी मानवतावादी कला का प्रतीक है। उनका विचार-दर्शन (अर्थात् साहित्य) व्यक्ति के अपने में डूबकर खोजने का दर्शन है, अधिकारों का नहीं। शिल्पी नन्दलाल बोस से गाँधी जी ने कहा था कि जो मानव संस्कृति का अंग है उन कलाओं को वे हेय दृष्टि से नहीं देखते पर जैसा कि श्री दामोदर दास मून्ड़ा ने लिखा है, उनका संगीत प्रेम और खादी प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह सिक्का है मानव-प्रेम। यही कारण है कि वे सर्वोच्च सौन्दर्य की ओर ले जाने वाली कला को उपयोगिता से अलग नहीं करते। वे प्रेम और सत्य के उल्काष्ट प्रकटीकरण को ही कला का पूर्ण प्रदर्शन मानते थे। उन्होंने इसे एक स्थान पर बैठकर और सारे कागज सामने रख कर नहीं लिखा है अपनी याददाश्त के आधार पर जैसा प्रसंग याद आ गया लिखा है। भले ही इससे कालक्रम की पूरी रक्षा न हो सकी हो, पर उस युग का इतिहास कहीं खंडित नहीं हुआ है। बल्कि परम्परागत रूढिवादी इतिहास से यह सहस्रगुणों में प्रामाणिक और प्रेरक है। उनकी यह आत्मकथा 1920 में समाप्त हो जाती है उसके

बाद जनवरी 1948 को शहीद हो जाने तक का उनका जीवन खुली किताब की तरह है।

आत्मकथा के अतिरिक्त उनकी अन्य उल्लेखनीय रचनाओं में आती हैं :

(1) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, (2) अनासक्ति योग, (3) गीता बोध, (4) आरोग्य की कुंजी, (5) सर्वोदय, (6) मेरे जेल के अनुभव, (7) यरवडा के अनुभव, (8) सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, (9) रचनात्मक कार्यक्रम, (10) हिन्द स्वराज, (11) मंगल प्रभात, (12) आश्रमवासियों से। उपर्युक्त सभी रचनाएँ प्रायः पुस्तक रूप में ही लिखी गईं, यद्यपि इनका सृजन एक ही समय में नहीं हुआ।

उनकी सत्याग्रही कार्य-पद्धति को समझने के लिए उनकी संस्मरणात्मक रचनाओं में ‘मेरे जेल के अनुभव’ और ‘यरवडा के अनुभव’ में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की जेल-यात्रा के समय जो अनुभव प्राप्त किए उनका बड़ा सहज और मार्मिक वर्णन किया है। छोटी-से-छोटी और साधारण-से-साधारण बात भी उनकी प्रेम प्लावित दृष्टि से नहीं बच सकी है। प्रत्येक घटना का उन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया है। सत्य का शोधक ऐसी लापरवाही कर ही नहीं सकता। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने एक महत्वपूर्ण बात कही है, ‘मुझे हमेशा एक ही रूप में दिखाई देने की कोई परवाह नहीं। सत्य की अपनी खोज में मैंने बहुत से विचारों को छोड़ा है और अनेक नई बातें सीखा भी हूँ। उम्र में भले ही मैं बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आन्तरिक विकास होना बन्द हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बन्द हो जाएगा। मुझे एक ही बात की चिन्ता है और वह है प्रतिक्षण सत्य नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता...”

‘यरवडा के अनुभव’ में गाँधी जी ने भारत की अपनी प्रथम जेल यात्रा (1922) के अनुभवों का वर्णन किया है। इस छोटी-सी पुस्तिका में एक आदर्श सत्याग्रही कैदी के रूप में गाँधी जी के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने जेल अधिकारियों, कैदी वार्डरों, सत्याग्रही कैदियों तथा अपने अध्ययन के बारे में अत्यन्त दिलचस्प बातें तफसीलवार लिखी हैं। प्रारम्भ में इसमें उन पर चलाए गए मुकदमे की पूरी कार्यवाही और अन्त में अधिकारियों के साथ हुआ उनका पत्र-व्यवहार भी सम्प्रिलित कर लिया गया है।

‘सत्याग्रह आश्रम का इतिहास’ इन रचनाओं से कुछ भिन्न है। उनके लिए आश्रम का अर्थ सामूहिक धार्मिक जीवन रहा। किस प्रकार उनके मन में इसकी कल्पना का उदय हुआ और कैसे-कैसे इसका विकास हुआ यह संक्षेप में बताने के बाद सत्याग्रह आश्रम, सावरमती की स्थापना, विकास और उसमें होने वाली विविध प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है। सत्य, अहिंसा, प्रार्थना, ब्रह्मचर्य से लेकर खेती और गौ सेवा को व्यावहारिक जीवन से जोड़ने में क्या क्या अनुभव हुए, उनका बड़ा ही मार्मिक वर्णन गाँधी जी ने किया। चोर और उनके लिए पहरा तथा आश्रम में होने वाली खुशी और दुःख के प्रकरण जितने दिलचस्प हैं, उतने ही हिन्दुस्तान के नवनिर्माण के ख्याल से महत्व के हैं। काका साहेब कालेलकर के शब्दों में, ‘इस

पुस्तक को भूतकाल के एक बोधप्रद प्रयोग के बयान के रूप में नहीं देखना चाहिए, बल्कि राष्ट्रपिता द्वारा आने वाले 500 वर्षों की राष्ट्रीय साधना के लिए किए गए एक स्फूर्तिदायक प्रयोग के रूप में इसका अध्ययन करके संकल्प बल प्राप्त करने के लिए, इस इतिहास का अध्ययन होना चाहिए।”

आश्रमवासियों के लिए गीता का अर्थ सुगम करने के उद्देश्य से उन्होंने उसके प्रत्येक अध्याय का सरल भाषा में जो सार प्रस्तुत किया है, वह ‘गीता बोध’ के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त गीता के भक्ति प्रधान श्लोकों का भी अलग से संग्रह किया है जो ‘गीता प्रवेशिका’ के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी दृष्टि से गीता को सबके लिए सहज-सुगम बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। यहाँ तक कि गीता के शब्दों का अर्थ सहित स्थल निर्देश करते हुए, ‘गीता पदार्थ कोष’ की भी रचना उन्होंने की है।

वे यह अच्छी तरह जानते थे कि शिक्षा का आरम्भ बच्चों से होता है। उनसे माँग की गई कि उन्हें कैसी पुस्तकें पढ़ाई जानी चाहिए तो उन्होंने अपने जेल प्रवास में 12 पाठों वाली एक छोटी-सी बाल पोथी तैयार कर दी। जैसा कि हो सकता था इस पोथी की रचना उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से की, सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं। सही शब्दों के सही प्रयोग पर उन्होंने विशेष बल दिया। यह पोथी शिक्षकों के लिए है। उन्हीं के शब्दों में, ‘सच पूछा जाए तो मेरी बाल पोथी शिक्षकों के लिए है। शिक्षक मुँह से ही शिक्षा दें, पुस्तकों द्वारा शिक्षा न दी जाए। जिस देश में शिक्षा की पाठ्यपुस्तकों का ढेर है उस देश के बालकों के दिमाग में क्या भरा जाता है, शायद भूत ही भरा जाता होगा। वहाँ बालकों की विचार शक्ति नष्ट हो जाती है।’

गाँधी जी जब यरवडा जेल में थे तब नियम से आश्रमवासियों को साताहिक प्रवचन लिख भेजा करते थे उसी का सुफल हैं—ये दो पुस्तकें ‘मंगल प्रभात’ और ‘आश्रमवासियों से’। सन् 1930 में उन्होंने अपने प्रवचनों में व्रतों की व्याख्या की थी और समझाया था कि यदि ईश्वर की झाँकी प्राप्त करनी है तो शरीर जाए या रहे धर्म का पालन करना ही है ऐसा भव्य निश्चय करना होगा। ‘मंगल प्रभात’ में उन्हीं व्रतों की चर्चा है। 1932 के प्रवचनों में आश्रम जीवन के विषय में छुटपुट विचारों की चर्चा की है जिसमें ‘आकाश दर्शन’ जैसे विषय भी हैं। वे लिखते हैं—‘आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी हैं वैसे तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते जान पड़ते हैं वैसे हम करें। वे जैसे अपना रास्ता एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते वैसे हम भी अपना कर्तव्य न छोड़ें।’

गाँधी जी का विपुल साहित्य उन असंख्य लेखों के रूप में बिखरा हुआ है जो वे अपने पत्रों के लिए निरन्तर लिखा करते थे। उनका अध्ययन किए बिना गाँधी साहित्य की भूमिका को समझना असम्भव जैसा है। वे अपने समस्त लिखे या बोले साहित्य के प्रकाशन का अधिकार नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद को दे गए हैं। उसने उनके लेखों के जो संग्रह प्रकाशित किए हैं उनमें उल्लेखनीय हैं : (1) अहिंसक

समाजवाद की ओर (2) अहिंसा का पहला प्रयोग (3) आर्थिक और औद्योगिक जीवन : उनकी समस्याएँ और हल (4) कुदरती उपचार (5) खादी क्यों और कैसे (6) खुराक की कमी व खेती (7) गाँधी जी की अपेक्षा (8) गौ सेवा (9) ग्राम स्वराज्य (10) नई तालीम की ओर (11) प्रजातन्त्रः सच और झूठा (12) बापू की कलम से (हिन्दी के मूल लेख) (13) मेरा धर्म (14) मेरे सपनों का भारत (15) मोहन माला (16) राम नाम (17) राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी (18) विद्यार्थियों से (19) शिक्षा की समस्याएँ (20) सच्ची शिक्षा (21) सत्य ही ईश्वर है (22) सर्वोदय (23) स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ (24) हम सब एक पिता की सन्तान (25) हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण।

इनके विषय इनके शीर्षकों से सहज ही समझ में आ सकते हैं। अपवाद स्वरूप केवल दो पुस्तकें हैं—‘बापू की कलम से’ और ‘हम सब एक पिता की सन्तान’। गाँधी जी ने अपनी सारी रचनाएँ प्रायः अँग्रेजी और गुजराती में लिखी हैं। हिन्दी में जो थोड़े से लेख और टिप्पणियाँ लिखीं उनका संग्रह ‘बापू की कलम से’ नामक पुस्तक में किया गया है। इसका महत्व गाँधी जी की हिन्दी शैली को समझने में अधिक है। काका साहब कालेलकर जी के शब्दों में, “अगर गाँधी जी के विचारों में और विचार-शैली में सत्य की सरलता है, युग-दृष्टि को साफ करने की क्षमता है और मानव कल्याण की भावुकता है तो उनकी शब्दावली, उनकी वाक्य-रचना और उनके बनाए हुए मुदावरे परिचित होने पर भी किसी को बेढ़ों नहीं लगेंगे, बल्कि अनुकरणीय और आदरणीय लगेंगे। भाषा ऐसे ही बनती है। समर्थ समाज सेवक, तेजस्वी लोकनेता और जनता प्रिय साहित्य स्वामी जो भाषा लिखते हैं, वही प्रचलन पाती है और सर्वमान्य होती है।”

“हम सब एक पिता की सन्तान” में गाँधी जी के विभिन्न विषयों पर लिखे हुए कुछ ऐसे चुने हुए सुन्दर लेखों का संग्रह किया गया है जो उनका सही-सही प्रतिनिधित्व कर सकते हों और जिनके द्वारा उनके विचारों, कार्यों और कार्य-पद्धति को समझा जा सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक समिति यूनेस्को को संसार की आज की विषम परिस्थिति में गाँधी जी के कार्य और सन्देश का इतना अधिक महत्व लगा कि उसने इन दोनों का परिचय जगत् को कराने के आशय से गाँधी जी के वचनों से कुछ महत्वपूर्ण वचन चुनकर ‘आल मैन आर ब्रदस’ नामक एक अँग्रेजी संग्रह प्रकाशित किया। उसी का यह हिन्दी अनुवाद है।

“मेरे समकालीन” एक और ही कारण से उल्लेखनीय रचना हो गई है। अपने व्यस्त जीवन में अनेक कारणों से गाँधी जी ने अनेक व्यक्तियों के बारे में लिखा है। साधारणतः वे अपने सहयोगियों के बारे में लिखते रहे। कभी उन्हें श्रद्धांजलियों के रूप में लिखना पड़ा। कभी किन्हीं शंकाओं के निराकरण और समाधान करने के लिए भी उन्हें लिखना पड़ता था। अपने आन्दोलनों में भाग लेने वालों या उनका विरोध करने वालों के विषय में भी उन्होंने बार-बार लिखा है। उनके सारे साहित्य में सुन्दर चित्र

बिखरे पड़े हैं। उन्हीं में से 250 से कुछ अधिक चित्रों का संग्रह ‘मेरे समकालीन’ में संकलित हुआ है। उन्होंने स्वयं कहा है, ‘मेरे सारे कार्यों का जन्म मानव-जाति के प्रति रहे मेरे अखंड और अविच्छिन्न प्रेम से हुआ है’। गाँधी जी का साहित्य मानव-जाति के प्रति इसी अखंड और अविच्छिन्न प्रेम का साहित्य है। यह प्रेम उनके सत्य की उस शोध से अलग नहीं जिसके लिए वे जीते थे।

पत्र-साहित्य का अपना महत्व है। गाँधी जी के सन्दर्भ में वह और भी महत्वपूर्ण हो उठा है। न जाने किस-किसको किन-किन विषयों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है। जैसे आकाश की कोई सीमा नहीं वैसी ही स्थिति है इन पत्रों की। जो शब्द मीरा बहन ने उन्हें प्राप्त पत्रों के बारे में लिखे हैं वे उनके सभी पत्रों के बारे में कहे जा सकते हैं। इन पत्रों में बापू के जीवन के पिछले बाईस वर्षों का प्रतिविम्ब है। सबको दिखाई देने वाला भव्य और नाटकीय बाह्य जीवन नहीं बल्कि वह आन्तरिक व्यक्तिगत जीवन जो बाहरी दुनिया के तमाम बखेड़ों से प्रभावित हुए बिना आध्यात्मिक खोज के अपने सन्तुलित और सीधे मार्ग पर चलता रहा। नवजीवन द्रष्ट अहमदाबाद ने ऐसे सात संग्रह प्रकाशित किए हैं—(1) आश्रम की बहनों से, (2) सरदार वल्लभ भाई के नाम (3) कूसुम बहन देसाई के नाम, (4) मणिबहन पटेल के नाम, (5) कुमारी प्रेमा बहन कंटक के नाम, (6) बीबी अमतुस्सलाम के नाम (7) मीरा के नाम। सस्ता साहित्य मंडल ने भी ‘बापू के पत्र जमनालाल जी के नाम’ तथा ‘गाँधी जी की छत्र छाया में’ घनश्यामदास बिड़ला के नाम पत्र—इस प्रकार से दो संग्रह प्रकाशित किए हैं।

अनुवाद भी उन्होंने किए परन्तु जो अर्थ हम अनुवाद का समझते हैं वैसे अनुवाद नहीं। सार रूप में स्वतन्त्र रूप में अपने परिवेश की पृष्ठभूमि पर ही आधारित करके उन्होंने जो उन्हें अच्छा लगा उसे स्वीकार किया। रस्किन के ‘अन टू दिस लास्ट’ की चर्चा आ चुकी है। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपने मुकदमे में अपनी सफाई में जो भाषण दिया था उसे उन्होंने सार रूप में, ‘एक सत्यवीर की कथा’ अथवा ‘सुकरात की सफाई’ के नाम से प्रस्तुत किया। इस प्रकार तोलस्तोय की सुप्रसिद्ध कहानी ‘मूरखराज’ का अनुवाद भी उन्होंने किया था। उन्होंने लिखा है, इस कहानी का शब्दार्थ अनुवाद नहीं किया है बल्कि उसका रहस्य ठीक-ठीक समझ में आ जाए और अपनी भाषा में ठीक लगे इस प्रकार लिखने का प्रयत्न किया है। नाम-वाम भी बदल दिए हैं। एक और पुस्तक है नीति धर्म। मि. साल्ट नामक एक अमरीकी विद्वान की पुस्तक के आधार पर उन्होंने इसकी रचना की है। वे धर्म और नीति अलग नहीं मानते थे। धर्म ही नीति है। नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। नीति और सच्ची सफलता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में मिलती हैं यहीं पुस्तक का सार है। इसकी रचना उन्होंने हिन्दुस्तान आने से पूर्व दक्षिण अफ्रीका में की थी।

यह है उनके विपुल साहित्य की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा, लेकिन 1888 से ले कर 1948 के 60 वर्ष के अपने सार्वजनिक जीवन में उन्होंने लेखों और पत्रों के रूप में जो कुछ लिखा और भाषण सन्देश के रूप में जो कुछ कहा उस सबको एकत्र

करके और पूरे-पूरे तथा तिथिक्रम से प्रकाशित करने का प्रयत्न भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मन्त्रालय ने उनके जीवन के किसी भी काल के कहीं भी उपलब्ध समूचे साहित्य को ‘सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय’ शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित करने का आयोजन किया। यह आयोजन उसी के शब्दों में—“राष्ट्र स्वातन्त्र्य शिल्पी के प्रति राष्ट्र का ऋण चुकाने की भावना मात्र से नहीं किया बल्कि इस दृढ़ विश्वास से किया है कि भावी पीढ़ियों के लिए उन महात्मा के तमाम भाषणों, लेखों और पत्रों को एक स्थान पर एकत्र करके छाप रखना जरूरी है।”

डा. राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में कहा जा सकता है : “अगर कभी कोई ऐसा पुरुष हुआ जिसने जीवन को सम्पूर्ण रूप में देखा और जिसने अपने-आपको सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा में निछावर कर दिया तो वह निश्चय ही गाँधी जी थे। उनका उद्देश्य किसी जीवन-दर्शन का विकास करना या मान्यताओं अथवा आदर्शों की प्रणाली निर्मित करना नहीं था... तथापि सत्य अहिंसा में उनका दृढ़ विश्वास था और जो समस्याएँ उनके सामने आईं उनमें इनके व्यावहारिक प्रयोग को ही उनकी शिक्षा और जीवन-दर्शन कहा जा सकता है।

उनका सम्पूर्ण साहित्य इसी जीवन-दर्शन से ओतप्रोत है। उन्होंने सहज को साध लिया था, इसलिए उनके विचारों में आश्चर्यजनक ताजगी है। गाँधी नीति के एक और व्याख्याता श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दों में, “जैसे नगाधिराज हिमालय की रम्य पर्वत श्रेणियाँ ज्यों-ज्यों उनके अन्दर प्रवेश करते हैं और ऊपर चढ़ते हैं, एक के बाद एक हमारे मन को मोह लेती हैं और उत्तरोत्तर आकर्षण का केन्द्र बनती जाती हैं, त्यों-त्यों बापू का साहित्य हमें मनमोहक, अलंघ्य, नित्य नवीन स्फूर्ति देने वाला लगता जाता है।”

गाँधी जी का विकास एक परम्परागत साहित्यिक के रूप में नहीं हुआ। इस दृष्टि से तो केवल उनकी आत्मकथा और कुछ दूसरे संस्मरणात्मक ग्रन्थ ही इस ‘श्रेणी’ में आ सकते हैं। उनका विपुल साहित्य तो समय-समय पर लिखे गए नीतिपरक लेखों, पत्रों के उत्तरों और भाषणों के रूप में बिखरा पड़ा है। गाँधी नीति के प्रसिद्ध व्याख्याता आचार्य जे.बी. कृपलानी के शब्दों में कहें तो एक लेखक के रूप में गाँधी जी ने अपनी मातृभाषा गुजराती और अंग्रेजी में भी एक विशिष्ट साहित्यिक शैली का निर्माण किया है। वह शैली सरल, विशद एवं सब प्रकार के आडम्बर या अलंकार से रहित है। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः दीन, दलित एवं समाज के निम्न वर्ग के लोगों को उद्दिष्ट करके लिखा है। उन्होंने राजाओं, महाराजाओं, राजकुमारों, शासकों या धनिकों के क्रियाकलापों को लेकर किसी नाटक, उपन्यास, या कहानी की रचना नहीं की। उनके लेखों की विषयवस्तु आध्यात्मिक होने पर भी उसमें किसी देवी देवता या किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं रहती।

गाँधी जी को अभियादन करते हुए हिन्दी के वरिष्ठ लेखक एवं चिन्तक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि जीवविज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों ने

मनुष्य की एकरूपता को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है, लेकिन सामाजिक रीति-नीति और संस्कारों के अध्ययन से मनुष्य की दृष्टि और भी उदार बनेगी और देश तथा काल की सीमा को लाँचकर सौन्दर्य और माझुर्य का रस ले सकने की सामर्थ्य इस मानवीय संस्कृति की नींव को मजबूत करेगी। आज भी ऐसे महामानव मिल जाते हैं जो देश और काल की संकीर्ण सीमाओं को भेद कर यथार्थ मानव धर्म को समझ लेते हैं। हमारे देश के रवीन्द्रनाथ और गाँधी जी ऐसे ही नर-रत्न थे। (हजारी प्रसाद छिवेदी ग्रन्थावली खंड 7, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1999, पृष्ठ 578, मूल्य 150, वर्तमान सन्दर्भ पृष्ठ 139)

गाँधी चिन्तन के प्रभाव एवं प्रवाह को अपने में समा कर चलने वाली तीन-तीन पीढ़ियों का साहित्य के क्षेत्र में जो योगदान है वह अविस्मरणीय है। गाँधी जी की निगाहों में साहित्य की ताकत जीवन की ताकत के समान सत्य ही रही। सत्य को उन्होंने ईश्वर का रूप माना। ईश्वर सत्य है इस अपनी शोधयात्रा का अगला पड़ाव उन्हें इसीलिए सत्य ही ईश्वर है इस रूप में साक्षात्कृत होते हुए दिखाई दिया। साहित्यिक अपनी दृष्टि से सत्य को परखता है, उसका अनुभव करता है और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। रसिक से मान्यता प्राप्त करता है। रसिकमान्य साहित्य सफल साहित्य कहलाता है अपने साथी के सम्बन्ध में एकात्मकता का विचार ही साहित्य का विचार जब होता है तब अहिंसा धर्म का उद्घोष किया जा सकता है। गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा के माध्यम से ही साहित्य निर्मिति के विचार को पुष्टि प्रदान की है। वे साहित्य को सत्य और धर्म का सारांश मानते रहे। वे चाहते थे कि जीवन का सत्य साहित्य के माध्यम से जन-जन तक पहुँचे। आम आदमी तक पहुँचने वाला साहित्य ही कालजीवी होता है। आसान, सरल, सादगी भरा और अनलकृत सत्य ही जीवन और साहित्य की चेतना को स्पर्श कर सकता है यह उनकी मान्यता थी। वे कहते हैं कि ऋजु एवं निर्मल अन्तःकरण से निःसृत साहित्य की धारा गंगा के प्रवाह के समान जन-जन का हित कर सकती है। ऐसी भाषा में साहित्यिक का अन्तःकोष खुलता है। साहित्य में न केवल आसान भाषा की आवश्यकता होती है अपितु उसमें तलस्पर्शी चिन्तन होता है। मन की मन से की गई बात होती है। साहित्य में लेखक का हृदय पारदर्शिता से भरपूर होना आवश्यक है। साहित्य आम आदमी के मन-मस्तिष्क को सिंचित करने वाला हो यह गाँधी जी के चिन्तन का प्रमुख अंग है। गाँधी चिन्ता और चिन्तन की आधार भूमि साहित्य का जनमान्य होना है। उनके द्वारा की गई साहित्य सेवा अनेक अर्थों में विशिष्ट मानी जा सकती है। आज पूरी दुनिया में गाँधी जी प्रासारिता सिद्ध हुए हैं। अमेरिका के अध्यक्ष बराक ओबामा भी डंके की चोट पर इस बात को कहते हैं कि वे गाँधी जी के पुण्य के कारण राष्ट्रपति के पद पर आसीन हैं। आज सर्वत्र गाँधी विचार को अलग-अलग कोणों से समझने की होड़ है। इस क्रम में गाँधी जी के साहित्य के सम्बन्ध में सोचा जाना अत्यन्त आवश्यक कदम है।

गाँधी के अधूरे भाषण की याद में

राजीव रंजन गिरि*

1915 में गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे। उनके राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले ने सुझाव दिया कि भारत आकर शीघ्रता में कोई काम शुरू न करें। एक साल तक अपनी आँख और कान तो खुला रखें, लेकिन मुँह बन्द। गोखले जी चाहते थे कि गाँधी भारत-भ्रमण करें। देश की परिस्थितियों का अध्ययन करें। चुपचाप देश की वास्तविकता समझें। मुल्क के लोगों की मनोभूमि पढ़ें। उसके बाद सार्वजनिक सवालों पर, खासकर राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के बारे में, अपनी राय बनाएँ और अपने आगामी कार्यकलापों की रणनीति भी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह और उसमें गाँधीजी की भूमिका से गोखले भली-भाँति अवगत थे। वे गाँधीजी की प्रतिबद्धता से भी परिचित थे।

फिर ऐसा सुझाव क्यों दिया गोपालकृष्ण गोखले ने? क्या गोखले को यह लगता था कि उनके शिष्य के मन में भारत-दुर्दशा की जो धारणा है, वह वास्तविकता से दूर है? अथवा यह कि गाँधी की राह भारत के लिए उपयुक्त नहीं? अथवा यह कि भारत के लोग गाँधी-मार्ग पर चलने के लिए तैयार नहीं? अथवा यह कि गाँधी के रास्ते भारत की मुक्ति मुमकिन नहीं? या इन सभी कथाओं के रसायन से बना था गोखले का सुझाव।

भारत को लेकर गाँधीजी ने जो धारणा ‘हिन्द स्वराज’ में जाहिर की थी। तत्कालीन अधिकतर बुद्धिर्मियों की भाँति गोखले जी भी उससे सहमत नहीं थे। तत्कालीन सभ्यता की समीक्षा कर गाँधीजी जो यूटोपिया दिखा रहे थे, उसने गोखले को सुझाव के लिए प्रेरित किया था। गोखले जी का अनुमान था कि साल भर भ्रमण और लोगों से मिलजुल कर, हकीकत जानने के बाद, गाँधी अपनी मान्यताओं

*राजीव रंजन गिरि, हिन्दी विभाग, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, राजा गार्डन, नई दिल्ली-110015; एवं मानक सम्पादक, अंतिम जन गाँधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजधानी, नई दिल्ली-2; मो. 9868165701

पर पुनर्विचार करेंगे। अपनी धारणा बदलेंगे। जाहिर है यूटोपिया बदलेगा, ‘हिन्द स्वराज’ में निहित विचार भी।

इस दौरान गाँधीजी देश के विभिन्न हिस्सों में गए। कई जगह उनके सम्मान में आयोजन हुए। भिन्न-भिन्न तरह के कार्यक्रमों में शरीक हुए। लोगों से संवाद किया। कुछेक भाषण भी किए। इसी क्रम में महात्मा मुंशीराम से जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से लोकप्रिय हैं, और कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी मिले। 1 मार्च 1915 को गाँधी जी कोलकाता स्थित कॉलेज स्कूलवेयर के विद्यार्थी भवन में, पी.सी. लायन्स की सदारत में आयोजित एक बड़ी सभा में भाषण के दौरान, अपने गुरु के ‘आदेश’ का स्मरण करते हुए कहा कि मैं इस सभा में भाषण देने का लोभ संवरण नहीं कर सका।

2 फरवरी 1916 को महामना मदनमोहन मालवीय के निमन्त्रण पर गाँधीजी बनारस पहुँचे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के बाइसवें वार्षिकोत्सव में भी शामिल हुए। काश्मीर के महाराजाधिराज के सभापतित्व में सम्पन्न इस समारोह में गाँधी जी ने भारतीय भाषाओं की असीम उन्नति की जरूरत पर बल दिया। युवकों से हिन्दी में पत्र-व्यवहार करने का आग्रह किया। अँग्रेजी जानने वालों से आग्रह किया कि वे ‘अँग्रेजी के उस विचार और नए खयात के सब लोगों के सामने रखें।’

अगले दिन 4 फरवरी 1916 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ। कार्यक्रम में वायसराय भी शामिल हुए थे। दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न समारोह में मालवीय जी के ‘विशेष आग्रह’ पर गाँधीजी ने भाषण दिया। इस ऐतिहासिक भाषण से गाँधी जी का महामौन टूटा।

साल भर के देश-भ्रमण के दरम्यान गाँधीजी ने जो मौन रखा था, वह ऋषियों का समाधिस्थ मौन नहीं था, जिसमें एक जगह बैठकर अन्तःप्रज्ञा का अभिज्ञान किया जाता है। गाँधी ने इस कालखण्ड में खूब यात्राएँ की। हर क्षेत्र के लोगों से मिले। साहित्य, राजनीति, धर्म, अध्यात्म, समाज सुधार जैसे सार्वजनिक क्षेत्रों में काम कर रहे सचेत लोगों के साथ चर्चाएँ की। उनके विचारों को जाना, सुना और गुना। योगी की समाधि से गाँधी की यह यात्राकालीन/भ्रमण/चल समाधि इस रूप में भिन्न है। कारण कि इसमें लोगों से लगातार संवाद किया गया था। पर साथ ही उनके भीतर अन्तःसलिला की तरह विचार-चेतना प्रवाहित हो रही थी। कुछ छूट रहा था तो कुछ जुट रहा था। घटाव और जोड़ चल रहा था। योगी की समाधि में भी यही होता है। भीतर के उथल-पुथल के बगैर समाधि सम्भव नहीं। ऊपर शान्त-प्रशान्त और अन्तर्जगत में अन्तःसलिला। जब चरम पर पहुँचता है समाधिस्थ तो अन्दर भी प्रशान्त हो जाता है।

यह भाषण इस मायने में भी ऐतिहासिक महत्व का था कि इसमें गाँधीजी ने अपनी धारणा मजबूती के साथ जाहिर की। मंच पर मौजूद एनी बेसेंट को गाँधीजी की बातें आपत्तिजनक महसूस हुई। उन्होंने गाँधीजी को भाषण शीघ्र समाप्त करने के

लिए कहा। गांधीजी ने अध्यक्ष से पूछा कि अगर ‘आपकी समझ में मेरी इन बातों से देश और साम्राज्य को हानि पहुँच रही है तो मुझे अवश्य चुप हो जाना चाहिए।’ अध्यक्ष ने गांधीजी को अपने कथन का आशय स्पष्ट करने के लिए कहा। गांधीजी अपनी बात साफगोई से कह रहे थे, परन्तु ऐसी बेसेट मंच से उठकर चली गई। साथ में कई गणमान्य भी चले गए। नतीजतन गांधीजी का भाषण अधूरा रह गया।

एक साल भारत-भ्रमण और लोगों से संवाद के पश्चात्, राष्ट्र और राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में, गांधीजी ने युवाओं की मौजूदगी में अपने विचार साझा किये तो ऐसी बेसेट सरीखे तत्कालीन नेतृत्व को प्रसन्न नहीं आया। आखिरकार क्या था इस भाषण में? जिसके बारे में गांधीजी ने कहा था कि ‘आज मैं भाषण नहीं देना चाहता, श्रव्य रूप में सोचना चाहता हूँ। यदि आज आपको ऐसा लगे कि मैं असंयत होकर बोल रहा हूँ तो कृपया मानिए कि कोई आदमी जोर-जोर से बोलता हुआ सोच रहा है और वही आप सुन पा रहे हैं। और यदि आपको ऐसा जान पड़े कि मैं शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर रहा हूँ तो कृपया उस स्वच्छन्दता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।’

गांधीजी ने कहा कि इस पवित्र नगर में, महान विद्यापीठ के प्रांगण में, अपने देशवासियों से एक विदेशी भाषा में बोलना शर्म की बात है। विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जिन लोगों ने गांधीजी से पूर्व अँग्रेजी में अपना भाषण दिया था, उन लोगों को शायद ही यह अनुमान था कि विदेशी भाषा में बोलना शर्म-सरीखा है। कहना तो यह होगा कि ज्यादातर लोग अँग्रेजी में बोलना गौरव की बात मानते रहे हैं। इसे गुमान समझते हैं। गांधीजी इस गुमान को शर्म बता रहे थे। इन्होंने आशा प्रकट की कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जाएगा। अगर ऐसा नहीं होता तो बकौल गांधीजी ‘हमारी भाषा पर हमारा ही प्रतिबन्ध है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार अभिव्यक्त किए ही नहीं जा सकते, तब तो हमारा संसार से उठ जाना अच्छा है।’ यह भाषण एक सदी पहले दिया गया था। आज भी ऐसा सोचने-माननेवाले मिलते हैं, जो अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भारतीय भाषाओं को तंग बताते हैं। गांधी के लिए ऐसा सोच अपनी भाषाओं पर प्रतिबन्ध सरीखा था।

गांधीजी ने वहाँ उपस्थित लोगों से प्रश्न किया कि क्या कोई स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अँगरेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? श्रोताओं ने ‘नहीं, नहीं’ कहकर जवाब दिया। यह उत्तर सुनकर गांधीजी ने पूछा कि ‘फिर राष्ट्र के पाँवों में यह बेड़ी किसलिए?’

उन्होंने कहा कि ‘भारत के अँगरेजीदाँ ही देश की अगुवाई कर रहे हैं और वे ही राष्ट्र के लिए सब-कुछ कर रहे हैं।... मान लीजिए हमने पिछले पचास वर्षों में

अपनी-अपनी भाषाओं के जरिए शिक्षा पाई होती, तो हम आज किस हालत में होते?’ इस प्रश्न का स्वयं जो उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है, कि आज भारत स्वतन्त्र होता, हमारे पढ़े-लिखे लोग अपने ही देश में विदेशियों की तरह अजनबी न होते, बल्कि देश के हृदय को छूनेवाली वाणी बोलते; वे गरीब-से-गरीब लोगों के बीच काम करते और पचास वर्षों की उनकी उपतव्यि पूरे देश की विरासत होती।

गाँधीजी ने यहाँ तक कहा कि आज तो हमारी अर्धांगिनियाँ भी हमारे श्रेष्ठ विचारों की भागीदार नहीं हैं। अँग्रेजी शिक्षा ने पति-पत्नी के विचारों के बीच बड़ी खाई पैदा की थी। उस दौर में देश की अगुवाई करने वाले पुरुष तो अँग्रेजी शिक्षा में दीक्षित थे, परन्तु स्त्रियाँ इससे वंचित थीं। वनस्पतिशास्त्री सर जगदीश चन्द्र बोस और रसायन शास्त्री पी.सी. रॉय तथा उनके शानदार आविष्कारों का हवाला देकर गाँधीजी ने पूछा कि क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि जनता का उनसे कुछ लेना-देना नहीं।

गाँधीजी ने भारत की ख्याति का कारण आध्यात्मिकता को बताया। इस क्षेत्र में भारत की कोई सानी नहीं है, ऐसा कहा। पर साथ में यह भी कहा कि बातें बघार कर आध्यात्मिकता का सन्देश नहीं दिया जा सकता। ऐसा सन्देश केवल वक्तव्यों के माध्यम से नहीं दिया जा सकता। हालाँकि गाँधीजी ने यह माना कि हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुँचे हैं; पर यह पर्याप्त नहीं। गाँधीजी के अनुसार, ‘अब हमारे मनों में स्फुरण होना चाहिए और हाथ-पाँव हिलने चाहिए।’ बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के इस समारोह में कहा गया था, जिसकी याद गाँधीजी ने भी दिलाई कि ‘भारतीय जीवन की सादगी कायम रखनी है तो हमें अपने हाथ-पाँव और मन की गति में सामंजस्य लाना आवश्यक है।’ यह मूल सवाल है। विचार की दिशा में हाथ-पाँव का हिलना। सोच की दिशा में कदम बढ़ाना। कर्म को शब्द के निकट ले जाना और इनमें सामंजस्य स्थापित करना। तभी विचार श्रोताओं के हृदय को छूने में सफल हो सकते हैं।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में जो भाषण हुए, उसके बारे में गाँधीजी ने क्यों कहा कि इन व्याख्यानों ने श्रोताओं के हृदय नहीं छुए। यह भी कहा कि यहाँ जो भाषण हुए उसके बारे में, लोगों की परीक्षा ली जाए और मैं निरीक्षक होऊँ तो निश्चित है कि ज्यादातर वक्ता फेल हो जाएँ। तथापि गाँधीजी यह मानते थे कि वक्ता भाषण देने की कला में लगभग शिखर पर पहुँच गये हैं। वक्ता भाषण देने की कला में शिखर पर हैं, फिर भी फेल कैसे?

गाँधीजी ने बताया कि 28 दिसम्बर 1915 को राष्ट्रीय महासभा कँग्रेस के बम्बई (अब मुम्बई) में सम्पन्न तीसवें अधिवेशन में तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए, जो हिन्दी में दिए गए थे। ध्यान दिलाया कि यह मुम्बई की बात है, बनारस की नहीं; जहाँ सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। प्रसंगवश, याद रखना होगा कि बनारस के सभी लोग हिन्दी नहीं, भोजपुरी बोलते रहे हैं। हाँ, हिन्दी समझ लेते होंगे।

अपने भाषण के आरम्भ में ही गाँधीजी ने यह कहा था कि ‘अभी-अभी जो महिला भाषण देकर बैठी हैं, उनकी अदभुत वाक्शक्ति के प्रभाव में आकर आप लोग कृपया इस बात पर विश्वास न कर लें कि जो विश्वविद्यालय अभी तक पूरा बना और उठा भी नहीं है, वह कोई परिपूर्ण संस्था है और अभी जो विद्यार्थी यहाँ आए ही नहीं हैं, वे शिक्षा-सम्पादन करके यहाँ से एक महान साम्राज्य के नागरिक होकर निकल चुके होंगे।’

इस वक्तव्य में दो बातें ध्यान देने की हैं। एक, वक्ता की वाक्शक्ति के असर में बातों पर विश्वास नहीं करने के लिए कहना। दो, अँगरेजी हुक्मत को ‘महान साम्राज्य’ बताना।

अब प्रश्न उठता है कि वक्ताओं ने हिन्दी में अपने विचार व्यक्त किए होते तो क्या वे श्रोताओं का हृदय छूने में पूर्णतया सफल होते? गाँधीजी के अनुसार क्या यह ‘पर्याप्त’ होता? कहना होगा कि श्रोताओं के हृदय छूने के लिए भाषा पहली सीढ़ी है, एकमात्र नहीं।

गाँधीजी के भाषण का एक हिस्सा भाषा के मुद्दा पर केंद्रित था; दूसरा कांग्रेस द्वारा पारित स्वराज के प्रस्ताव पर।

गाँधीजी को विश्वास था कि अखिल भारतीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपना कर्तव्य पूरा करेंगी और कुछ-न-कुछ ठोस सुझावों के साथ सामने आयेंगी। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग क्या-कुछ कर पाती हैं, इसमें मेरी उतनी दिलचस्पी नहीं है, जितनी इस बात में कि विद्यार्थी-जगत क्या करता है या जनता क्या करती है। कांग्रेस और मुस्लिम लीग की अपेक्षा विद्यार्थियों और किसानों को प्रमुखता देना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ गाँधीजी की आगामी नीति-स्वाधीनता संग्राम की अगुवाई के दौरान जिसे हकीकत बननी थी—की झलक मिलती है। कांग्रेस की कमान गाँधीजी ने सँभाली, उससे पहले कांग्रेस बैरिस्टर, जर्मांदार सरीखे उच्च वर्ग के लोगों तक महदूद थी। गाँधीजी ने इसे किसानों-मजदूरों से जोड़ा। इन्होंने पूरी स्पष्टता से कहा कि ‘कोई भी कागजी कार्रवाई हमें स्वराज नहीं दे सकती।’ कांग्रेस का प्रस्ताव पास करना, कागजी कार्रवाई ही तो था। इसके मद्देनजर ‘ठोस सुझाव’ सामने लाना था, और अपना ‘कर्तव्य’ भी पूरा करना था। गाँधीजी का मतलब स्पष्ट था कि कांग्रेस कागजी कार्रवाई से आगे बढ़े। इन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष से सहमति जताई कि स्वराज की बात सोचने के पहले हमें बड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी।

किस दिशा में मशक्कत? किस मार्ग पर? क्या करना होगा कांग्रेस को, स्वराज की खातिर? गाँधीजी ने संकेत दिया था, विद्यार्थी और किसान क्या करते हैं, इसे महत्व देकर। इनके प्रति दिलचस्पी प्रगट कर। यह भी कहा कि ‘धुआँधार भाषण हमें स्वराज के योग्य नहीं बना सकते। वह तो हमारा आचरण है जो हमें उसके योग्य बनाएगा।’ कैसा होना चाहिए हमारा आचरण, कि हम स्वराज के काबिल बन सकें?

गाँधी-चिन्तन में आचरण पर सबसे ज्यादा जोर है। विचार और आचरण का समन्वय। विचार और कर्म की एकता।

स्वराज पाने के लिए आचरण को कसौटी बनाना, नितान्त मौलिक बात थी। यह गाँधीजी का पक्ष था। एक मजबूत पक्ष।

स्वराज के सवाल के साथ गाँधीजी ने स्वच्छता का प्रश्न जोड़ा। इसके माध्यम से व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक आचरण का सवाल भी उठाया। इन्होंने कहा कि ‘कल मैं विश्वनाथ के दर्शन के लिए गया था। उन गलियों में चलते हुए, मेरे मन में ख्याल आया कि यदि कोई अजनबी एकाएक ऊपर से इस मन्दिर पर उतर पड़े और यदि उसे हम हिन्दुओं के बारे में विचार करना पड़े तो क्या हमारे बारे में कोई छोटी राय बना लेना उसके लिए स्वाभाविक न होगा? क्या यह एक महान मंदिर हमारे अपने आचरण की ओर उंगली नहीं उठाता? मैं यह बात एक हिन्दू की तरह बड़े दर्द के साथ कह रहा हूँ। क्या यह कोई ठीक बात है कि हमारे पवित्र मंदिर के आसपास की गलियाँ इतनी गन्दी हों? उसके आसपास जो घर बने हुए हैं, वे बेसिलिसिले और चाहे जैसे हों। गलियाँ टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी हों। अगर हमारे मंदिर भी सादगी और सफाई के नमूने न हों तो हमारा स्वराज कैसा होगा?’

स्वराज का प्रश्न उठानेवाले लोगों की निगाहों से ऐसे मुद्दे बहुत दूर थे। पर गाँधीजी के हिसाब से ये तमाम मुद्दे स्वराज के प्राथमिक सवाल थे। गाँधीजी ने पूछा कि चाहे खुशी से, चाहे लाचारी से अँग्रेजों का बोरिया-बिस्तर बैंधते ही क्या हमारे मन्दिर पवित्रता, स्वच्छता और शान्ति के धाम बन जाएँगे? वे मन्दिर की सफाई तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने रेलगाड़ी के डिब्बे की गन्दगी की तरफ भी ध्यान दिलाया। बकौल गाँधीजी ‘यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में लाया जाता है, हम उस पर जहाँ-तहाँ थूकते रहते हैं। हम जरा भी नहीं सोचते कि हमें वहाँ क्या फेंकना चाहिये, क्या नहीं और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गन्दगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है।’ नागरिक-कर्तव्य के इस सवाल के साथ गाँधीजी ने वर्गीय मनोवृत्ति के बारे में बताया कि ‘जिन्हें कुछ ऊँचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने से कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डॉट-डपट का व्यवहार करते हैं।’ इतना ही नहीं, यह भी बताया कि विद्यार्थी भी ऐसा करते हैं। वे अँगरेजी बोल सकते हैं और नारफॉक जाकिलें पहने होते हैं और इसलिए अधिकार जाता कर डिब्बे में घुस जाते हैं और बैठने की जगह ले लेते हैं।’ अँग्रेजी बोली और जाकिट विद्यार्थियों को अपने देश के सामान्य लोगों से कुछ दर्जा ऊपर होने का बोध कराता था! अँग्रेजी साम्राज्य का विरोध करने वाले विद्यार्थी का मानस स्वीकार कर चुका था—अँग्रेजी भाषा और उनकी पोशाक की श्रेष्ठता। इसी श्रेष्ठता के सहरे वे लोग सामान्य लोगों पर रौब जमाते थे।

गाँधी के लिए यह स्वराज का बुनियादी प्रश्न था। श्रेष्ठता-ग्रन्थ के रहते स्वराज नहीं आ सकता। ये परेशानियाँ अँग्रेजों के कारण पैदा नहीं हुई थीं। इसके लिये भारतवासी जिम्मेवार थे। गाँधीजी के लिए ये चिन्ताजनक बातें थीं। स्वराज की राह

में रुकावट भी। इसलिए उन्होंने कहा कि ‘स्वराज की दिशा में बढ़ने के लिये हमें बिना शक ये सारी बातें सुधारनी चाहिये’। स्वराज्य की किस दिशा में बढ़ने के लिए ये सारी बातें सुधारनी चाहिए। यह कहना ज्यादा उचित प्रतीत होता है कि किस स्वराज्य की दिशा में कदम बढ़ाने के लिए ये तमाम कमियाँ ठीक करनी होंगी। स्पष्ट है कि गाँधी जिस स्वराज्य की बात कर रहे थे, वह अलग था और विशिष्ट भी।

इतिहास के उस दौर में सक्रिय विचार-समूहों में स्वराज की अपनी-अपनी कल्पना थी। वे सभी अपने-अपने स्वराज्य को रूप और आकार देने के लिए जटोजहद कर रहे थे। अपने-अपने मोर्चे पर स्वराज के ये तमाम तस्विर किसी स्तर पर एक-दूसरे से संबद्ध थे तो किसी स्तर पर असंबद्ध भी। एक स्तर पर किसी के प्रतिलोम थे तो दूसरे स्तर पर पूरक भी। किन्हीं मायनों में एक-दूसरे से संगत करते थे तो कुछ अर्थों में सामना भी। स्वराज की ये अवधारणाएँ एक-दूसरे को काटती थीं तो पूर्णता भी प्रदान करती थीं। गाँधी के जेहन में स्वराज्य की जो अवधारणा थी, उसकी दिशा में बढ़ने के लिए बिना शक उक्त तमाम बातें देशवासियों की कमियाँ थीं, स्वराज प्राप्ति के रास्ते की रुकावट भी। लिहाजा, सुधार की जरूरत थी।

दरभंगा के राजा सर रामेश्वर सिंह ने उद्घाटन समारोह के एक सत्र की सदारत की थी। अपने सम्बोधन में भारत की गरीबी पर प्रकाश डाला था। अन्य वक्ताओं ने भी गरीबी के सवाल पर जोर दिया था। इस पर गाँधीजी ने कहा कि जिस शामियाने में वायसराय द्वारा शिलान्यास-समारोह हो रहा था, वहाँ काफी प्रदर्शन किया गया था। जड़ाऊ गहनों की ऐसी प्रदर्शनी थी, जिसे देखकर पेरिस के जौहरी की आँखें भी चौंधिया जातीं। जब मैं गहनों से लदे हुए उन-उमरावों और भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलता हूँ तो मुझे लगता है, मैं इन अमीरों से कहूँ ‘जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा।’ देशी राजवाड़ों के इस अश्लील प्रदर्शन पर टिप्पणी करते हुए गाँधीजी ने कहा था कि ‘मुझे यकीन है कि सप्राट अथवा लार्ड हार्डिंग, सप्राट के प्रति वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिये किसी का गहनों के सन्दूक उलटकर सिर से पाँव तक सजकर, आना जरूरी नहीं समझते।’ इन्होंने भारत के राजवाड़े, नवाब और जर्मांदारों द्वारा बनायी जा रही बड़ी इमारतों को लेकर दुख जाहिर किया, क्योंकि ‘ये किसानों से वसूले गए पैसों से बनता है।’ जर्मांदारों राजाओं और नवाबों की समृद्धि किसानों की कमाई पर टिकी होती है। तब देश में पचहत्तर प्रतिशत से भी अधिक लोग किसानी करते थे। गाँधीजी ने कहा कि ‘यदि हम इनके परिश्रम की सारी कमाई दूसरों को उठाकर ले जाने दें तो कैसे कहा कहा जा सकता है कि स्वराज की कोई भी भावना हमारे मन में है।’

स्वराज का प्रस्ताव पास करने वालों और सभा-संगोष्ठियों में स्वराज का सवाल उठाने वालों से यह पूछना ध्यान देने योग्य है। किसानों के परिश्रम की कमाई उठाकर

कौन ले जाता था? साम्राज्यवादी शोषण-व्यवस्था और इसके अन्दर काम कर रही सामन्ती संरचना। समारोह में मौजूद राजे-महाराजे और अमीर-उमराव इस संरचना के विशेष अंग थे। यह एक मूलभूत सवाल था, जिसे गाँधीजी ने उठाया। यह कहकर गाँधीजी स्वराज के प्रश्न से किसानों का सवाल सम्बन्ध कर रहे थे। उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि ‘हमें आजादी किसान के बिना नहीं मिल सकती। आजादी वकील और डॉक्टर या सम्पन्न जर्मीदारों के वश की बात नहीं है।’ आजादी के लिए किसानों को सबसे आवश्यक तबका बताना, भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के सन्दर्भ में, प्रस्थापना-परिवर्तन करने वाली बात थी। गाँधीजी ने किसानों से वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जर्मीदारों में भेद किया। गाँधी के कथन में जर्मीदार के पहले ‘सम्पन्न्य शब्द का प्रयोग हुआ है। समाज वैज्ञानिकों ने सातवें-आठवें दशक में यह तथ्य पहचाना कि तमाम जर्मीदार एक कोटि में नहीं समाते। जर्मीदारों में भी स्तर भेद रहा है। इस भेद का प्रतिफल भी कई क्षेत्रों में दिखता है। वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जर्मीदारों के वश में देश की आजादी नहीं है, यह कहकर गाँधीजी ने स्वाधीनता-आन्दोलन की तत्कालीन संरचना पर सवाल खड़ा किया। इतिहास के उस दौर में यही वर्ग स्वतन्त्रता-आन्दोलन की अगुआई कर रहा था। इन्हें आजादी के लिए अपर्याप्त कहकर गाँधीजी आन्दोलन की प्रकृति में बदलाव लाने का सुझाव दे रहे थे। वे किसानों का जिक्र कर बहुसंख्यक आबादी को स्वाधीनता-आन्दोलन से जोड़ने पर बल दे रहे थे। मुझी भर वकील, डॉक्टर या सम्पन्न जर्मीदार—जो कई मायनों में साम्राज्यवादी व्यवस्था के मजबूत अंग भी थे—स्वाधीनता आन्दोलन को कितने दूर तक ले जा सकते थे? देश की बहुसंख्यक जनता से कटकर देश-हित का कोई भी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, देश की आजादी का आन्दोलन तो बिल्कुल नहीं। ब्रिटिश हुकूमत की सर्वाधिक मार इस बहुसंख्यक आम अवाम को झेलनी पड़ती थी। बगैर इनके शामिल हुए आन्दोलन के सफल होने का सवाल ही नहीं था।

स्वाधीनता-आन्दोलन के तत्कालीन नेतृत्व को आजादी के लिए अपर्याप्त कहने वाले गाँधीजी उस दौर तक अँग्रेजी सत्ता को देश के लिए घातक नहीं मानते थे। जो लोग उस हुकूमत को भगाना चाहते थे, वे देश की जनता को आन्दोलन से जोड़ने की जरूरत नहीं समझ पाये थे। लिहाजा यह बात और भी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। गाँधीजी ने पूरी साफगोई से कहा था कि “यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाए कि अँग्रेजों के रहते हुए इस देश का कदापि उद्भार न होगा—उन्हें यहाँ से निकाल ही देना चाहिए—तो उनसे अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर यहाँ से चलते होने की प्रार्थना करने में, मैं कभी आगा-पीछा न करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपनी दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को भी तैयार रहूँगा, ऐसा मरण ही मेरी सम्मति में प्रतिष्ठा का मरण है।”

प्रसंगवश, गाँधीजी के अनन्य अनुयायी आचार्य जे.बी. कृपलानी ने अपने संस्मरण ‘गुलामी बापू की’ में लिखा है कि अक्सर लोग मुझसे पूछते हैं कि आप हिंसा

में भरोसा रखने वाले हैं और गाँधी ठहरे परम अहिंसावादी! गाँधीजी ब्रिटिश राज्य में श्रद्धा रखने वाले हैं और आप उसका उच्छेद करने वाले। तो आपने उनका नेतृत्व किस प्रकार स्वीकार किया? जवाब में कृपलानी जी कहते हैं : मैंने इस आदमी में एक शक्ति देखी है। वह है—या तो काम को अन्त तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। इसलिए मैंने इनको अपना नेता स्वीकार किया है। दूसरे, उनमें सच्चाई है। आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आ जाएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चल कर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। इस एक ही चीज ने मुझे उनके प्रति आकृष्ट किया है। इसीलिए मैं उनके साथ हूँ। हिंसा के विषय में तो मेरा विश्वास हो गया है कि बापू को हिंसा से डिंगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है। उनको जिस क्षण यह लगा कि ब्रिटिश राज्य देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे। ब्रिटिश शासन को उन्होंने शैतानी राज्य कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा।

आचार्य कृपलानी ने गाँधी की शख्सियत को बिल्कुल ठीक उकेरा है। उनकी शक्ति के बारे में सर्वथा उचित आकलन पेश किया है। क्या है गाँधी-शक्ति? जे.बी. कृपलानी ने इस गूढ़ प्रतीत होने वाले प्रश्न का सहज उत्तर दिया है। वह है जो काम अपने कन्धे पर लिया है, या तो उसे अन्त तक पहुँचाना या अपना अन्त कर देना। जो दायित्व स्वीकारा है, उसके प्रति पूर्णतः कटिबद्ध होना। उसे लेकर कोई शुबहा नहीं। काम की राह में कठिनाई आने पर पलायन नहीं। बहुतेरों को यह गाँधी-मार्ग रास नहीं आता। कारण कि इसमें वचनबद्धता के बाद उसे पूर्णता तक पहुँचाने के अलावा कोई चारा नहीं। भले ही खुद का अन्त करना पड़े। आचार्य कृपलानी ने गाँधी की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता बताई है—सच्चाई। यही गाँधी की मजबूती है। इन दोनों खूबियों को परिभाषित करने वाले आचार्य कृपलानी का आरभिक दौर में गाँधी की अहिंसक विचारधारा में यकीन नहीं था। गाँधीजी थे परम अहिंसावादी जबकि आचार्य कृपलानी हिंसा में पूरा भरोसा रखते थे। विचारों का विपर्यय इतना ही नहीं था। गाँधीजी ब्रिटिश राज के प्रति श्रद्धा-भाव वाले थे। जबकि कृपलानी जी की पुष्ट धारणा थी कि बगैर अँग्रेजी राज का उच्छेद किये, हिन्दुस्तान का भला होने वाला नहीं।

गाँधी की शख्सियत की व्याख्या करते हुए आचार्य कृपलानी ने यह भी कहा है कि आज वे अहिंसा का समर्थन करते हैं, परन्तु जिस क्षण उनको यह समझ में आएगा कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है, उसी समय वे हिंसा के रास्ते पर चलकर ऐसी उग्रता से लड़ेंगे, वैसा दूसरा नहीं लड़ेगा। गाँधी के चरित्र में निहित इसी मूल्य ने आचार्य कृपलानी को अपनी तरफ आकृष्ट किया। अपने विचार पर खुद को न्योछावर

कर देना, प्राणपण से अपनी मान्यताओं के पथ पर चलना, भले ही उस पर चलते हुए जीवन का उत्सर्ग करना पड़े ।

सवाल पैदा होता है कि अगर गाँधीजी को समझ में आता कि अहिंसा से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है और वे हिंसा की राह अपनाते तो क्या इसे पलायन कहा जाता? जवाब होगा—नहीं । कारण कि यह न तो किसी सुविधा के लिए होता और न ही किसी वैचारिक दुलमुलपन अथवा दुविधा के कारण । आचार्य कृपलानी ने इस काल्पनिक स्थिति के लिए भी कहा है कि ऐसी परिस्थिति में गाँधीजी जिस उग्रता से लड़ेगे, वैसा दूसरा नहीं । यहाँ भी वे स्वयं के उत्सर्ग के लिए तैयार रहते । यहाँ नोट करने लायक है—गाँधी-भावना । गाँधी अगर अहिंसा से हिंसा की राह पर जाते तो यह भी सत्य के प्रयोग का एक पड़ाव ही बनता । उनका समूचा जीवन सत्य तक पहुँचने का प्रयोग था । बहरहाल ऐसी कल्पना करने वाले आचार्य कृपलानी ने पूरी साफगोई से कहा है कि बापू को हिंसा से डिंगा देना, विचलित करना, एकदम असम्भव है । गाँधी का समूचा जीवन अहिंसा के प्रयोगों का पर्याय था । ये तमाम प्रयोग देश एवं दुनिया के कल्याण के लिए थे । इसमें पूरी मानवता की चिन्ता थी । एक नयी सभ्यता गढ़ने की अकुलाहट का परिणाम थे ये सारे प्रयोग । इसमें किसी के शोषण के लिए गुँजाइश नहीं थी । यही वजह है, जैसा आचार्य कृपलानी ने भी बताया है कि जिस क्षण गाँधी ने समझा ब्रिटिश राज देश के कल्याण के लिए नहीं है, उसी समय उन्होंने उसके लिए ऐसे कठोर विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जैसे लोकमान्य तिलक भी नहीं कर पाये थे । गाँधीजी ने ब्रिटिश शासन को ‘शैतानी राज्य’ कहा और वह भी इतने जोर से कि फिर तो पूरा देश उसको शैतान कहने लगा । ब्रिटिश शासन के प्रति श्रद्धा रखनेवाले गाँधी उसे शैतान कहने लगे । इतनी मजबूती से कहने लगे कि देशभर ने इस पर भरोसा किया, रंचमात्र भी सन्देह न कर, ब्रिटिश हुक्मत को शैतान कहा ।

गाँधीजी और आचार्य कृपलानी के विचारों में वैषम्य दिखता था । लिहाजा लोगों के जेहन में यह सवाल पैदा होना स्वाभाविक था । आचार्य जे.बी. कृपलानी को व्यक्तित्व से जानकर लोग समझ नहीं पा रहे थे कि निहायत विपरीत विचार वाले व्यक्ति का नेतृत्व इन्होंने क्यों माना है? इसका जवाब देते हुए कृपलानीजी ने गाँधीजी की ताकत की चर्चा की है । यही ताकत उन्हें श्रेष्ठ साबित करती थी । इसी ने कृपलानी जी को प्रेरित किया कि वे गाँधीजी को अपना नेता मानें ।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भाषण में गाँधीजी ने स्पष्ट किया था कि अगर उन्हें यह समझ में आ जाए कि अंग्रेजों के रहते देश का उद्धार कर्तई नहीं होगा तो उनसे भारत से चले जाने हेतु प्रार्थना करने में बिल्कुल आगा-पीछा नहीं करूँगा । ऐसा ही किया भी । इसे समझते ही पूरी प्रतिबद्धता के साथ अंग्रेजी सत्ता को यह अहसास कराने में जुट गए कि उन्हें भारत से सात समुद्र पार चले जाना चाहिए । अपनी इस दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को तत्पर रहने की बात उन्होंने की थी । इस तरह के

मरण को श्रेष्ठ भी बताया था। इस पर भी वे बिल्कुल सच्चे साबित हुए। उनके जीवन ने इस धारणा को पुष्ट किया। इसी ने आचार्य कृपलानी सरीखे अनेक लोगों के अन्तःकरण में गाँधी की अगुवाई स्वीकारने का भाव जगाया।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के दौरान जो माहौल बना था, उससे गाँधीजी का मन उद्धिङ्गन था। इसका कारण था, स्थान-स्थान पर लगाई गई खुफिया पुलिस। आयोजन में वाइसरॉय शामिल हुए थे। उनकी सुरक्षा के मद्देनजर यह तैनाती हुई थी। गाँधी के मुताबिक इसका कारण था—अविश्वास। भारतीय लोगों के प्रति शासकों में अविश्वास। अगर शासक और शासितों में विश्वास होता तो सुरक्षा के इन्तजाम नहीं होते। जगह-जगह खुफिया पुलिस नहीं लगायी जाती। गाँधी इस अविश्वास का कारण पूछते हैं। इसकी वजहों पर विचार करते हैं। एक-दूसरे के प्रति अविश्वास और परिणामस्वरूप सुरक्षा के लिए खुफिया पुलिस की तैनाती गाँधी के हिसाब से मरणान्तक दुख है। वे कहते हैं कि “इस प्रकार मरणान्तक दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लार्ड हार्डिंग के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है। परन्तु एक बलशाली सम्प्राट के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भौति जीना ही वे शायद जरूरी समझते हों।” विद्यार्थियों की सार्वजनिक सभा को सम्बोधित करते हुए गाँधी यह कह रहे थे। वे ही ऐसा कह सकते थे, सबकी मौजूदगी में। कारण कि उनका मन साफ था। पारे की तरह। सुरक्षा के ऐसे ठोस इन्तजाम के साथ जीना मृतक की तरह जीना है। फिर ऐसे जीवन का क्या मतलब? इस जीवन से श्रेयस्कर है सचमुच मर जाना। वायसराय लार्ड हार्डिंग के लिए सहजतापूर्वक गाँधीजी ने जो कहा, उसे सुनने के लिए मंच पर आसीन लोग तैयार थे? थोड़ी देर बाद भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा गया, उसका राब्ता इससे जुड़ता प्रतीत होता है।

गाँधीजी यह भी पूछते हैं कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? जवाब में इसके लिए अराजक दल को जिम्मेदार मानते हैं। गाँधी खुद को अराजक ही कहते हैं, “मैं खुद भी अराजक ही हूँ, पर दूसरे वर्ग का।” इन दोनों अराजक वर्ग की विभाजक रेखा है; हिंसा। गाँधी अराजक थे, अहिंसक अराजक। वे हिंसक अराजक दल की उत्पत्ति का कारण मानते हैं—उतावलेपन का नशा। वे इस समूह को स्पष्टतया कहते हैं, “यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहाँ जगह नहीं है।” कारण कि हिंसा कायरता का लक्षण है। हिंसा की पैदाइश की बड़ी वजह कायरता है। ईश्वर के प्रति अटूट आस्था वाले गाँधी हिंसा में भरोसा रखने वाले लोगों को कहते हैं, “यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है, फिर चाहे वे राजा-महाराजा हों, वाइसरॉय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सप्राट हों।” गाँधी के मन में हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश-प्रेम के

प्रति आदर-भाव था। गहरा सम्मान। उन्होंने कहा है कि “अराजकों के स्वदेश-प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूँ। वे जो स्वदेश के लिए आनन्दपूर्वक मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उनकी मैं इज्जत करता हूँ।” गाँधी हिंसक अराजकतावादियों के स्वदेश-प्रेम का सम्मान करते थे। वतन के लिए खुशी-खुशी मरने वाले जज्बे की भी इज्जत करते थे। फिर भी उनके मार्ग से घोर असहमति रखते थे।

गाँधीजी ने भाषण में उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा कि “मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या मृत्युदंड प्राप्त होता है उसे किसी भी प्रकार गौरवपूर्ण माना जा सकता है।” वे स्वयं जवाब भी देते हैं—‘नहीं।’ वजह बताते हैं कि “कोई धर्मग्रन्थ ऐसे उपाय का अवलम्बन करने की अनुमति नहीं देता।” सवाल उठता है कि कोई धर्मग्रन्थ इसकी इजाजत देता तो क्या वे स्वीकार करते? गाँधी की मनोभूमि से वाकिफ कोई भी व्यक्ति इसका सहज जवाब दे सकता है। वे तब भी इसे हरगिज पसन्द नहीं करते। वे हिंसा कर्तई स्वीकार नहीं कर सकते थे। गाँधी जो सभ्यता निर्मित करना चाहते थे, उसमें हिंसा के लिए कोई जगह नहीं थी।

गाँधी के सपनों की दुनिया में हिंसा के लिए स्थान नहीं था। भले ही वह हिंसा किसी के भी प्रति हो। किसी पर, किसी तरह की, हिंसा गाँधी को स्वीकार नहीं। दुश्मन के प्रति भी हिंसा मंजूर नहीं। यह हिंसा की संस्कृति को खारिज कर मनुष्यता पर आधारित संस्कृति गढ़ने की आकांक्षा का परिणाम है।

गाँधीजी ने इस भाषण में हिंसा की राह पर चलनेवालों को कायर बताया। पूरी साफगोई से कहा कि “बम फेंकने वाला गुप्त रूप से घड़यन्त्र करता है। वह बाहर निकलने से डरता रहता है और पकड़े जाने पर अयोग्य और अतिरिक्त उत्साह का प्रायश्चित्त भोगता है।” अपने विचार के प्रति सच्ची प्रतिबद्धता और उसके लिए मरने को प्रतिष्ठा का मरण कहने वाले गाँधी हिंसक अराजक वर्ग की राह पसन्द क्यों नहीं करते थे? जबकि ‘हिंसक अराजक वर्ग’ के लोग भी अपने विचार के समर्थन में मरने के लिए तत्पर रहते थे। आखिरकार उनका मरण ‘प्रतिष्ठा’ का मरण क्यों नहीं? पूछा जा सकता है कि बम फेंकनेवाले अगर गुप्त रूप से घड़यन्त्र नहीं करें और बाहर निकलने से डरें भी नहीं, तो क्या गाँधीजी इसे स्वीकार करते? हरगिज नहीं। क्योंकि बम से होनेवाली हिंसा बीच की दीवार है। गाँधीजी अहिंसा की राह हरगिज नहीं छोड़ते। अहिंसा गाँधी के लिए साधन मात्र नहीं है। अहिंसा साध्य है और कसौटी भी। अहिंसा के प्रतिमान पर गाँधी घटनाओं को परखते हैं और स्वयं को भी।

हिंसा की राह पर चलने वालों को कायर बताना ध्यान देने योग्य है। यह कहकर गाँधीजी ने आम समझ का विलोम प्रस्तावित किया है। हमारी सभ्यता-संस्कृति का विकास जिस दिशा में हुआ है, उससे यह मिथ्या धारणा पुष्ट हुई है कि हिंसा ताकत का पर्याय है, कि हिंसा का मार्ग मजबूती का उदाहरण है, कि हिंसा करने वाले पराक्रमी होते हैं। गाँधीजी की चिन्ता और चिन्तन के केंद्र में, हिंसा को शौर्य

माननेवाला, यह झूठा-सच रहा है। वे आजीवन अपने शब्द और कर्म के जरिये इसका प्रतिलोम रचते रहे हैं। यह समझाते रहे हैं कि अहिंसा वीरों का मार्ग है, कि अहिंसा मजबूरी में अपनाया जानेवाला साधन नहीं है, कि अहिंसा की राह पर पराक्रमी और निडर लोग ही चल सकते हैं। अहिंसक संस्कृति की रचना ही मनुष्यता का लक्ष्य होनी चाहिए। गाँधी जैसे व्यक्ति के लिए यह बेहद चिन्ताजनक बात थी कि मनुष्य ऐसी संस्कृति निर्मित—हिंसा को प्रधानता देने वाली—करने की दिशा में अग्रसर हैं। मनुष्य मात्र की भलाई अहिंसक संस्कृति में है, न कि हिंसक। गाँधी हिंसा के उत्स की असली वजह कायरता को भी समाप्त करना चाहते थे। भय के कारण ही हिंसा पनपती और पल्लवित-पुष्पित होती है। निहायत भिन्न परिस्थितियों में भी हिंसा के उत्स का कारण एक ही होता है; भय। भले ही वह भिन्न-भिन्न तरह का भय हो। गाँधी अभय-संस्कृति रचना चाहते थे, जिसमें कोई किसी से भयभीत न हो। जो क्रांतिकारी (गाँधी जिन्हें हिंसक अराजक वर्ग सम्बोधित करते हैं) हिंसा की राह से आजादी पाना चाहते थे, गाँधी के मुताबिक वे पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधन अपना रहे थे। गाँधी जैसे व्यक्तित्व के लिए सोचने की बात यह भी थी कि हिंसा के जरिए प्राप्त स्वराज में हिंसा के लिए जगह रह जाएगी। जो आजादी हिंसा से मिलेगी, उससे हिंसा पूर्णतः समाप्त नहीं होगी। हिंसा से हासिल स्वराज से अहिंसक संस्कृति के पनपने के लिए आवश्यक खाद-पानी युक्तिकृत नहीं है। गाँधी अहिंसक संस्कृति विकसित होना देखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में भी इससे लेशमात्र विलग नहीं हुए थे। जाहिर है, यहाँ भी विचलन सम्भव नहीं था।

गाँधीजी अपने भाषण में, बंग-भंग में, हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा कर रहे थे। ऐन तभी मंच पर बैठी एनी बेसेंट ने हस्तक्षेप करते हुए भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा। यह चिन्तनपूर्ण भाषण जिस दिशा में बढ़ रहा था, वह श्रीमती बेसेंट को नागवार गुजरा। क्या उन्हें हिंसक आन्दोलनकारियों की चर्चा उचित नहीं जान पड़ी? एनी बेसेंट की तरह गाँधी भी अहिंसा के प्रतिवद्ध समर्थक थे। गाँधी की जो छवि बनी थी, उसे दक्षिण अफ्रीका में उनकी भूमिका ने गढ़ा था। बेसेंट इससे जानकर न हों, यह मानने की बात नहीं। जाहिर है वे हिंसा का समर्थन नहीं करेंगे, इस तथ्य को भी एनी बेसेंट समझती होंगी। फिर किस बात ने प्रेरित किया कि वे गाँधी का भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहें।

निश्चय ही वह बात थी—हिंसक आन्दोलनकारियों की चर्चा के पूर्व की बात, जिसमें वे देश का उद्धार न होने की समझ आने पर अँग्रेजों से बोरिया-बिस्टर समेटकर जाने के लिए कहने और इसके लिए मरने को भी तत्पर रहने को कह रहे थे। साथ ही हिंसक आन्दोलनकारियों के स्वदेश प्रेम और इसके लिए मृत्यु को गले लगाने के प्रति सम्मान की चर्चा भी। युवजनों के बीच सार्वजनिक सभा में ऐसी बातें कहने-सुनने से वाकिफ नहीं था तत्कालीन नेतृत्वकारी वर्ग। वह भी ऐसे आयोजन में जिसमें

ब्रिटिश-सत्ता के प्रतिनिधि भाग ले रहे हों! यहाँ तक पहुँचकर गाँधी के भाषण की दिशा साफ हो चुकी थी। बेसेंट सरीखी प्रबुद्ध शिखियत इसे समझने में चूक नहीं सकतीं थीं!

बंग-भंग के सम्बन्ध में हिंसक आन्दोलनकारियों के दावे की चर्चा गाँधीजी पहली बार कर रहे हों, ऐसा नहीं है। उन्होंने बताया कि ये बातें मिस्टर लॉयन्स की अध्यक्षता में भी कह चुका हूँ। श्रीमती बेसेंट ने गाँधीजी को जो सुझाव दिया, उसका कारण गाँधीजी ने क्या समझा? उन्होंने समझा कि श्रीमती बेसेंट भारत से बहुत अधिक प्रेम करती हैं और वे समझती हैं कि युवकों के सामने इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहकर मैं अनुचित काम कर रहा हूँ।

गाँधीजी बेसेंट की इस धारणा से इत्तेफाक नहीं रखते थे। वे इसकी वजह मानते थे—परस्पर अविश्वास। ब्रिटिश सत्ता और भारतवासी एक-दूसरे के प्रति विश्वास के जोड़ से नहीं बँधे थे। गाँधीजी अपना कर्तव्य मानते थे, दोनों के भीतर परस्पर प्रीति और विश्वास पैदा करना। बहुतेरे लोग घर की बैठक में ऐसी बातें भले ही करते हों, लेकिन सार्वजनिक तौर पर इससे परहेज करते थे। गाँधीजी इसे दायित्वहीन मानते थे। वे खुले तौर पर, पूरी स्पष्टता से ऐसी बातों की चर्चा श्रेयस्कर मानते थे। वे मानते थे कि सत्ता चलाने वालों से जो भी परेशानी हो, उसे साफ-साफ शब्दों में कहना चाहिए और इसके नतीजा स्वरूप जो कष्ट मिले, उसे भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। लेकिन उन्हें गली नहीं देनी चाहिए।

अँग्रेजी साम्राज्य ने अपनी हुकूमत चलाने के लिए जिस संरचना का निर्माण किया था, उसके मजबूत आधार-स्तम्भ थे—सिविल-सर्वेंट। भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचार और शोषण के एक अहम उपकरण भी थे सिविल सर्वेंट। एक बार गाँधीजी से एक सिविल सर्वेंट की मुलाकात हुई। उसने पूछा कि “क्या आपका भी ऐसा ही ख्याल है कि हम सभी सिविल-सर्विस वाले बुरे होते हैं और जिन पर शासन करने के लिए हम यहाँ आते हैं, उन पर हम केवल अत्याचार ही करना चाहते हैं।” गाँधी जी ने अस्वीकृति व्यक्त की। इनकी असहमति जानने के बाद उस सिविल-सर्वेंट ने आग्रह किया कि जब कभी “मौका मिले, आप हम अभागे सिविल-सर्वेंटों के पक्ष में लोगों के सामने दो शब्द कहने की कृपा करें।” गाँधी ने इस भाषण में उसके आग्रह पर अमल किया। उन्होंने कहा कि “इंडियन सिविल के बहुत से लोग निःसन्देह उद्धृत, अत्याचार प्रिय और अविवेकी होते हैं। इसी तरह के और कितने ही विशेषण उन्हें दिए जा सकते हैं।” परन्तु इसके बाद जो विशेषण इन्होंने किया, मौजूद जनता ने उससे असहमति जाहिर की।

गाँधीजी का मानना था कि “कुछ वर्षों तक हमारे देश में रहकर वे और भी ओछी मनोवृत्ति के बन जाते हैं।” इसका विवेचन करते हुए, इन्होंने कहा कि हमारे देश में आने के पहले यदि वे सभ्य और सत्युरुष थे, यहाँ आकर यदि वे नीति-भ्रष्ट हो गए तो क्या इसका हमारे ही चरित्र का प्रतिबिम्ब मानना चाहिए।

श्रोता इससे सहमत नहीं थे। गाँधीजी ने फिर दोहराया कि “आप लोग खुद ही विचार करें कि एक मनुष्य, जो कल तक भला आदमी था, मेरे साथ रहने पर खराब हो जाए तो उसके इस अद्यःपतन के लिए कौन उत्तरदायी होगा? वह या मैं।” सभी सिविल-सर्वेटों को गलत मानना अनुचित है। साथ ही इनके अद्यःपतन के लिए भारतवासियों को दोषी ठहराना भी उचित नहीं। जिस सिविल-सर्वेट ने गाँधीजी से, पक्ष में दो शब्द बोलने के लिए, निवेदन किया था। मुमकिन है, वह व्यक्तिगत तौर पर भला व्यक्ति हो। लेकिन जिस साम्राज्य की सत्ता और सुरक्षा के लिए इस पद का सृजन किया गया था ए उसमें भारतवासियों के प्रति अन्याय होना लाजिमी था। सिविल-सर्वेट ब्रिटिश सत्ता के नुमाइन्दे थे, भारतीय जनता के नहीं। वे अँग्रेजी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए थे, न कि भारतवासियों की भलाई के लिए। ‘अभागा’ तो वे कर्तई नहीं थे। सिविल-सर्वेट जिस मशीन के पूर्जा के तौर पर काम कर रहे थे, पूरी मशीनरी भारतवासियों का दोहन-शोषण कर ‘अभागा’ बनाने का काम कर रही थी।

वास्तव में वे ‘सिविल-सर्वेट’ थे ही नहीं, भारतीय जनता के लिए तो वे ‘किंग’ थे या उसकी नुमाइन्दगी करने वाले ‘बॉस’। इसलिए कहा जा सकता है कि गाँधीजी का यह मानना पूर्णतया ठीक नहीं है कि “भारत में आने पर खुशामद की जो हवा उन्हें चारों ओर से धेर लेती है, वहीं उनके नीति च्युत होने का कारण है।” सोचने की बात यह भी है कि खुशामद की संस्कृति विकसित करने में अँग्रेजी साम्राज्य और उसकी मशीनरी की भूमिका भी रही है। गाँधीजी आत्मालोचन के एक बड़े उदाहरण हैं। वे खुद को जिम्मेदार सावित करते हैं, दूसरों पर दोषारोपण करने की जगह। इस लिहाज से यह कहना उचित है कि कभी-कभी अपने दोष स्वीकार करना भी अच्छा होता है, पर सदा नहीं। कहना न होगा कि आत्मप्रशंसा जिस प्रकार सकारात्मक मनोवृत्ति नहीं है, उसी प्रकार सदा आत्मलानि भी जायज नहीं।

भाषण समापन के पहले गाँधीजी ने स्वराज-प्राप्ति के सम्बन्ध में जो बातें कहीं, वह काबिलेगौर है। उन्होंने कहा कि “यदि किसी दिन हमें स्वराज मिलेगा तो वह अपने ही पुरुषार्थ से मिलेगा। वह दान के रूप में कदापि नहीं मिलने का।” स्वराज-आनंदोलन के सन्दर्भ में यह प्रस्थापना-परिवर्तन करने वाली बात थी। इससे साफ जाहिर होता था कि स्वराज के लिए ब्रिटिश हुकूमत पर निर्भर रहना उचित नहीं।

अगर भारतवासी अपना पुरुषार्थ-प्रदर्शन नहीं करेंगे तो स्वराज दूर की कौड़ी साबित होगी। गाँधीजी ने ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास की तरफ ध्यान दिलाते हुए कहा कि “ब्रिटिश-साम्राज्य चाहे जितना स्वातन्त्र्य प्रेमी हो, फिर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए, स्वयं उद्योग न करने वालों के, वह कभी स्वतन्त्रता देने वाला नहीं है।” गाँधीजी बोअर-युद्ध का हवाला देकर अपनी बात पुष्ट कर रहे थे, कि श्रीमती वेसेंट के साथ कई बड़े लोग चले गए और भाषण बाधित हो गया।

हिन्द स्वराज का पहला पाठ चम्पारण

विजय बहादुर सिंह*

अफ्रीका से लौटे गाँधी का मुम्बई के सुपठ और सुसम्भ्रान्त समाज ने जिस ढंग से स्वागत किया उसे देखकर गाँधी इतने ऊब गए और चिन्तित हुए कि उन्हें अन्ततः कहना ही पड़ गया कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मजदूरों के बीच जीवन अधिक आन्धीय था। यहाँ तो हम अपने को कुछ पराए-ने लोगों के बीच पा रहे हैं। गाँधी की इसी अनुभूति ने उन्हें यह दृष्टि और शक्ति दी होगी कि देश के साधारणजन के मन को बगैर समझे और जाने भारत की सेवा नहीं की जा सकती। गाँधी ने शायद यह भी अनुमान और अनुभव किया हो रामायण और भागवत में राम और कृष्ण की जो चरित-कथा लिखी गई है उसमें वनवासी सामान्यजनों और गोकुल गाँव के ग्वाल-बाल समुदायों का संवर्ष-सहयोग ऐसा किस्सा है जो यह संकेत करता है कि मुकित की कोई भी राह बगैर जनसाधारण के सहयोग के सम्भव नहीं/लोक में जिसे चमत्कार समझा और कहा जाता है वह वस्तुतः इसी जन-साधारण के सोए हुए मन का नए सिरे से जागरण है। ऐसा जागरण ही वह आत्मबोध पैदा करता है जिससे वह रोशनी पैदा होती है जो लोकव्यापी अन्धकार को पराजित कर एक प्रकाश युग की शुरुआत करती है। भारत के जीवन में गाँधी यहीं प्रकाश-पुंज थे। गाँधी की हत्या के बाद पं. नेहरू ने ठीक ही कहा—रोशनी तो चली गई।

गाँधी में यह रोशनी सबसे पहले तो अफ्रीका के भारतीय मजदूरों के बीच रहते हुए आई, पर उसकी दोपहर तो भारत के जन-साधारण लोगों के बीच, उनके साथ किए जा रहे अत्याचारों की चीत्कारों को सुनते-समझते और उनका निवारण करते घटित हुई। उनका यह करिश्मा, जो वस्तुतः करिश्मा से कुछ अधिक था, याद आने पर गीता का यह श्लोक याद करने का मन करता है—यदा यदा हि धर्मस्य...। ‘भारतीय चित्त, मानस और काल’ शीर्षक से लिखी अपनी छोटी-सी पुस्तिका में धर्मपाल लिखते हैं;

*विजय बहादुर सिंह; 29, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म.प्र.)
मो. 09425030392

“1915 में गाँधी जी के मुम्बई उत्तरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बड़ी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के सम्पादकीय आलेखों से लगता है कि उन्हें कुछ अवतार पुरुष-सा समझा जाने लगा था।” ऐसा न होता तो चम्पारण के निलहे मजदूरों और किसानों के शोषण और उनके साथ किए जा रहे अत्याचारों की वेदना-कथा लेकर राजकुमार शुक्ल गाँधी के पीछे-पीछे महीनों वर्षों फिरते कि अकेले गाँधी ही हैं जो इस अत्याचार के विरुद्ध न केवल खड़े हो सकते हैं बल्कि उन्हें त्राण भी दिला सकते हैं।

गाँधी जी के पुत्र रामदास की बेटी सुमित्रा कुलकर्णी अपने दादा की जीवनी ‘अनमोल विरासत’ में दर्ज करती हैं—“1916 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ था। गाँधी जी भी उसमें शामिल हुए थे। वहाँ पर राजकुमार शुक्ल नामक एक किसान युवक उनके पास आया और बिहार में चल रहे घोर अत्याचार का वर्णन करने लगा।...देश सारा गोरों के हाथ में था तो पराई सरकार के कानों तक यह दीन-हीन पुकार या कराहट भी नहीं पहुँच पाती थी।

“राजकुमार शुक्ल अबूझ व्यक्ति थे। न ज्यादा समझते थे और न उनको कोई जानता ही था। उन्होंने अफ्रीका सत्याग्रह के बारे में थोड़ा-बहुत सुन रखा था। उसी सुनी-सुनाई बात पर उन्हें आशा थी कि गाँधी जी शायद कुछ मदद कर पाएँगे। ज्ञान तो कुछ नहीं था लेकिन श्रद्धा और लगन थी। छह महीनों तक यह देहाती व्यक्ति गाँधी जी के पीछे-पीछे कानपुर, अहमदाबाद, कलकत्ता घूमता रहा। लेकिन उसने गाँधी-जी का पीछा न छोड़ा। अन्त में 1917 के आरम्भ में राजकुमार शुक्ल गाँधी जी को कलकत्ता से पटना ले जाने में सफल हुए।”

भारत के जन-सामान्य के मन में गाँधी के प्रति यह विश्वास और उम्मीद गाँधी में प्रतिदिन नई ऊर्जा और आत्मशक्ति भरती गई। और तो और विशिष्टों और अभिजनोंवाली सिमटी-सकुची कांग्रेस के भीतर का चरित्र और वातावरण गाँधी के चलते बदलने लगा और वह बघियों से उतर जमीन पर पाँव-पाँव चलने लगी। इतना ही नहीं वह विशिष्ट किस्म के भारतीयों के विशिष्ट अधिकारों की माँग करने वाली राजनीति की जगह लोक की मुक्ति और लोक के स्वराज्य की राजनीति का मंच बन गई। यह गाँधी ही तो थे जिन्होंने पहली बार अँगरेजी परस्त कांग्रेस के मंच पर खड़े हो अपनी गुजराती मिश्रित हिन्दी—सही अर्थों में हिन्दुस्तानी का प्रयोग करना शुरू किया। यों बैरिस्टर गाँधी को बहुतेरे कांग्रेसियों की तुलना में कई गुना अच्छी अँगरेजी आती थी फिर भी विशिष्टों की राजनीति को जन-सामान्य की अपनी राजनीति में ढालने के लिए गाँधी ने भगीरथ जैसी भूमिका निभाई।

किसी भी भारतीय जनसेवी, बौद्धिक या लेखक-कवि को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि भारत का जन-अवाम कभी भी उसे अपना अपनत्व नहीं दे पाता जो अभिजनों जैसा सोचता, बोलता और जीता है। विपरीत इसके वह संस्कृतज्ञ गौतमबुद्ध

के पालि भाषा में उतरने का स्वागत करता है। कवियों में तुलसी और ग़ालिब हैं जो संस्कृत और फारसी के ज्ञानी थे फिर भी व्यापक जन-संवाद के लिए जन-भाषा अवधी और रेखा यानी उर्दू में उतरे और लोक के कंठहार ही नहीं हृदय-सम्राट भी बने। इन सबकी वाणी में लोक की अनुभूतियाँ और उसकी उम्मीदें साकार हुईं। गाँधी तो स्वयं इस सबके जीते-जागते प्रमाण थे। वे दर्शन भी थे दृष्टि भी और जीवन-पथ भी। भारत में उनकी साधना का जो सोपान शुरू हुआ, उसकी पहली कक्षा चम्पारण ही थी। यहाँ उन्होंने शोषण और अत्याचार के चरम का साक्षात्कार तो किया ही, चरम दारिद्र्य और असहाय गरीबी को भी अपनी खुली आँखों देखा। सुमित्रा कुलकर्णी भितिहरवा के आस-पास की इस जीती-कराहती गरीबी का हाल बिना करती हुई लिखती हैं—“एक दूसरे गाँव में दो औरतें झोंपड़ी में से निकल ही नहीं रही थीं। क्या मामला था, यह पता लगाने के लिए कस्तूरबा झोंपड़े में चली गई। अन्दर दो स्त्रियाँ लगभग नन हालत में बैठी थीं/उनके पास तन ढँकने को कपड़ा तक नहीं था कि वे बाहर सड़क पर निकल सकतीं। घर का कामकाज भी रात के अँधियारे में कर लेती थीं ताकि शरीर की लाज बची रहे।”

इससे पहले भी एक और गाँव में कस्तूरबा ने एक झोंपड़े के अन्दर जाकर देखा था कि गन्दी रहने और दिखने वाली स्त्रियाँ इस तरह रहने को इसलिए मजबूर थीं कि उनके बदन पर एकमात्र साड़ी ही थी, दूसरी के बिना वे पहली को, या पहनी गई साड़ी को बदलतीं और धोतीं कैसे?

आज इन घटनाओं की याद कर यह समझ में आए बिना नहीं रहता कि स्वच्छता का अभियान गरीबी को दूर किए बिना सफल नहीं होगा। गन्दगी में भला कौन जीना चाहता है, पर एक गरीब समाज के लिए स्वच्छता का राजनीतिक अभियान जले पर नमक छिड़कने जैसा है। पहले गरीबी दूर करो, स्वच्छ होने और रहने का संस्कार अपने-आप आ जाएगा।

गाँधी जी के पवित्र पुरुषार्थ से चम्पारण के किसानों का दुःख तो कम हो गया पर आज जो करोड़ों आत्महत्या कर चुके उनके लिए न लोकसभा गाँधी बनकर आ रही है न अन्य कोई लोकतान्त्रिक संस्था विशिष्ट अभिजनों और माफिया समूहों से मस्त यह लोकतन्त्र इन हत्याओं का अपराधी है या नहीं, इसे अनुभव करने वाला न कोई राजकुमार शुक्ल दिख रहा है, न कोई त्राणकर्ता गाँधी। सब अपनी-अपनी सत्ता-साधना को ही राष्ट्रवाद और देशभक्ति साधित करने में जुटे और निर्मम रूप से मग्न हैं। समकालीन भारतीय राजनीति का अब यही चरित्र और चेहरा है। चम्पारण और भितिहरवा की दारुण गरीबी देखकर गाँधी जी को अपना मूँगफली और खनूर का आहार भी महँगा लगता था और संकोच होता था पर आज तो हमारे रहनुमाओं (?) को आदमी तो आदमी, पशुओं के हक के लिए संकल्पित चारा भी सपड़ जाने में संकोच नहीं होता। साठ-सत्तर साल इस लोकतन्त्र में मानव-मानव के बीच की

संवेदनाएँ भी नदारद हैं। राष्ट्रीय और राष्ट्रवाद के भारी शोर-शराबे के बीच नदी, जंगल, पहाड़ और खेत-खलिहान जीव-जन्तु तक अपने-अपने अस्तित्व को लेकर चिन्ताग्रस्त हैं। कवि श्री नागार्जुन ने अपनी चर्चित कविता ‘बाकी बच गया अंडा’ में गाँधी के सपनों की इस दुःखद परिणति पर गहन शोक व्यक्त किया है। कवि-शायर दुष्प्रन्त कुमार ठीक ही लिख गए—‘मस्तेहत-आमेज होते हैं सियासत के कदम/तू न समझेगा सियासत तू अभी इन्सान है।’ कवितावली में कवि तुलसीदास ने, “खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी। जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस, कहै एक एकन सों ‘कहाँ जाई, का करी?’” जो मध्य काल में अनुभव किया और लिखा था, लगता है स्थितियाँ कोई खास बदली नहीं हैं/बस कुछ गिने-चुने लोग अपनी-अपनी स्वर्ण-लंकाएँ बना सकने में कामयाब हो गए हैं और उन्हीं के बल पर यह भ्रम पैदा किया जा रहा है कि विकास का ग्राफ उठ रहा है, देश आगे बढ़ रहा है।

देश कैसे आगे बढ़ता है, देश की शक्तियाँ कैसे जागती हैं देश के लोगों को अन्यायी व्यवस्थाओं और अमानवीय शासकों से कैसे लड़ना चाहिए, इसको गाँधी ने हमें चम्पारण के अपने पहले भारतीय पाठ से सिखाया। उन्होंने समाज के लोक-विमुख, आत्मकेन्द्रित हो उठे भद्र और ताकतवर लोगों को जगाया और प्रेरित किया कि पारिवारिक सुख-सुविधा और समृद्धि से बढ़कर है सामाजिक सुख और निरान्तक व्यवस्था। अपने को अभिजन और अतिविशिष्ट समझने से कहीं श्रेष्ठ और लोकोपकारी है जन-सेवा और जन-समर्पण। यही भारतीय परम्परा है न कि इनके नाम पर राजनीतिक ढांग।

अक्सर कहा जाता है कि आर्यों से लेकर अँगरेजों तक का सारा भारतीय इतिहास रक्तरंजित अध्यायों की ही कहानी है, पर यह एकदम से भुला दिया जाता है कि वह चाहे बुद्ध का धर्म-प्रवर्तन हो या फिर तीर्थकर महावीर का, मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन हो या फिर उन्नीसवीं सदी का नवजागरण—ये सब अहिंसक सांस्कृतिक अध्याय रहे हैं भारत के। सब जानते हैं वर्तमान भारतीय जीवन और संस्कृति की जड़ें हिंसक युद्धों में नहीं, इन्हीं अहिंसक क्रान्तिकारी प्रस्थानों में रही हैं। आधुनिक समय में गाँधी इसी का पुनरावर्तन करते हैं। वे मानते हैं कि अहिंसा का मार्ग सबसे पहले सत्य का मार्ग है। जिस लोकसेवा और लोक-राजनीति में यह सत्य नहीं होगा, वह लोक को तो धोखा देगी ही/स्वयं के साथ भी छल करेगी। तब लोक उसे अविश्वास, घृणा और भय की दृष्टि से देखेगा।

चम्पारण में उन्होंने श्रीसम्पन्न वकीलों—जिनकी आदतें और खान-पान निराले थे—उनमें से प्रभावती देवी के पिता और नामी वकील ब्रजकिशोर बाबू और बाद में भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने राजेन्द्र बाबू को अपने साथ लिया, प्रभावती जी तो

किशोर काल में ही ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर गाँधी के पास और साथ आ गई। जयप्रकाश तो बाद में उनके जीवन साथी बने।

चम्पारण में गाँधी ने तत्कालीन कानूनों के आधार पर ही निलहे गोरों के खिलाफ सबूत जुटाए, मुकदमा लड़ा, जिसमें आर्थिक मदद मुम्बई के मित्रों और संगून निवासी मित्र डॉ. प्राण जीवन मेहता ने की। इस लड़ाई में जरूरत पड़ी तो गाँधी ने न्यायालय के कठघरे में खड़े हो तत्कालीन कानूनों के अन्तर्गत अपना जुर्म भी कबूल किया। ऐसे अपराधी को लेकर मजिस्ट्रेट स्वयं अचम्भित और असमंजस की स्थिति में। कानून के सविनय भंग के इस प्रथम किस्से ने गाँधी की राजनीति के चारित्र को परिभाषित किया। ‘स्वतन्त्रता आन्दोलन की विचारधारा’ शीर्षक अपनी पुस्तक में समाजवादी विचारक मधु लिमये ने लिखा कि तिलक जन-विरोधी ब्रिटिश कानूनों का सैद्धान्तिक स्तर पर विरोध तो करते थे पर व्यावहारिक स्तर पर उन्हें मानते चलते थे जबकि गाँधी नागरिक स्तर पर भी उन्हें मानने को राजी नहीं रहकर जेल जाने के लिए तैयार रहते थे। तिलक और गाँधी की राजनीतिक रणनीति का एक यह ऐतिहासिक फर्क था। इस रूप में गाँधी अत्याचारी शासन और व्यवस्था को आईना दिखाते हुए उसे महसूस करने का प्रयास करते थे कि वह अपनी गलतियाँ स्वीकारे और बदले।

गाँधी के लिए प्रतिद्वन्द्वी भी शत्रु नहीं था। हाँ, उसका नजरिया जरूर भिन्न होने के नाते नीति-विरोधी और जनविरोधी था जिसे प्रत्येक स्थिति में बदला जाना चाहिए। चम्पारण में यों भी गाँधी यह हल्ता नहीं करने गए थे कि वे लोक-उद्धारक होकर अवतरित हुए हैं। वैसे भी गोरी सरकार को काँग्रेस नामक संस्था से नफरत थी। वह उसे बकीतों के जमावड़े की एक संस्था मानती थी। इसलिए गाँधी वहाँ एक कार्यकर्ता के रूप में ही गए थे और चम्पारण उनके इस कार्यकर्ता की प्रथम प्रयोगशाला था। यहीं उन्होंने पहली बार दरिद्र नारायण का दर्शन किया, जिसकी आराधना करना उनकी राजनीति का जीवन-सोपान बन गया। यहीं गाँधी ने एक ऐसी समाजसेवा की मूर्ति गढ़ी जो त्याग, तपस्या और समर्पण की माँग करती है। पंचसितारा समाजसेवा के ग्लैमरस पाखंड के परे एक ऐसा देशी सेवा-विधान जहाँ सेवक को कठिन जीवन-अभ्यासों में उतरकर हर रोज परीक्षा जैसी देनी पड़ती है। चम्पारण के भितिहरवा आश्रम को मैंने अपनी आँखों दो हजार नौ में देखा। साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली ने वहाँ वेतिया में ‘हिन्दू स्वराज्य’ को लेकर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की थी जिसमें कई जाने-माने राजनेता, विचारक, सम्पादक और लेखक आमन्त्रित थे। लेखक मित्रों में गाँधी दृष्टि के प्रति गहन आस्था और हिन्दी आलोचना को इस दृष्टि से एक नई पहचान और समृद्धि देने वाले भागलपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी आचार्य डॉ. श्री श्रीभगवान सिंह भी थे। आयोजन-स्थल तो वेतिया में था फिर भी भितिहरवा जाकर उस सेवा-भूमि और तपस्या-स्थली को प्रणाम करने का अवसर साहित्य अकादेमी ने हमें दिया। मेरे जीवन की अमिट यादों में जो अटल और अमिट रूप में

अन्तिम साँस तक सुरक्षित रहने वाली हैं उनमें भितिहरवा सेवाग्राम, साबरमती आश्रम से जुड़ी हैं जहाँ एक विदेश पलट बैरिस्टर ने अपनी समस्त सुख-सुविधा भूलकर किसी सन्त की तरह देश-सेवा और देशोद्धार की साधना की। कहने को तो गाँधी स्वयं अभिजात खानदान से थे, पर अपना सारा अभिजात त्याग कर उन्होंने देश के कसकते दुःखों को समझने और अत्याचारी विदेशी शासकों से लड़ने का अस्त्र-शस्त्र खोजा, देश की सोई हुई आत्मा को जगाने के लिए आश्रमों की राह खोजी, वह इसलिए अनन्य है कि तमाम प्रकार के प्रदर्शनधर्मी कर्मकांडों के विरुद्ध व्यक्ति और लोक के बुनियादी रूपान्तरण से जुड़ी है। एक गाँधी भक्त कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा है—जिसका दुःख गाना है, उसका दुःख जानो तो। भितिहरवा (चम्पारण) हो या साबरमती (अहमदाबाद) या फिर सेवाग्राम (वधी) मेरी अपनी दृष्टि में भारत की वे आधुनिक देव-भूमियाँ हैं जो किन्हीं भी कथित देव-भूमियों से अधिक जागृत और सन्देश-समृद्ध हैं। लेकिन यहाँ का होने के लिए जिस आचार-विचार, त्याग, तपस्या के पथ से गुजरना है उसमें स्वयं को ही आहुति और प्रसाद बनाकर प्रस्तुति होने की शर्त है—‘जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ’। कबीर और गाँधी जैसे देवों की माँग लड्डू-पेड़े, सोने-चाँदी से पूरी नहीं होती। यहाँ तो सबसे पहले ‘अपना’ ही घर भस्म करना पड़ता है। पर आज के इस चालाक जमाने में यह कोई क्यों करे। चालाकी और आत्मा की शुद्धता जीवन के दो विपरीत ध्रुव हैं। अब तो चालाकी ही आसान रह गई है। कर्मकांड सहज रह गया है। पाखंड ही जीवन-धर्म ही चुका है तब गाँधी की याद भी धीरे-धीरे इसी जद में आती जा रही है। इस पाखंड की जद से गाँधी की याद को निकाल सकना आज सबसे बड़ी चुनौती है।

सन्दर्भ : निर्मल वर्मा का निबंध-साहित्य

धर्म निरपेक्षता : बौद्धिक उथलेपन का प्रतीक

डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त*

निर्मल वर्मा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उन विरल रचनाकारों में हैं, जिन्होंने अपने विलक्षण गद्य के माध्यम से अनुभूति और अभिव्यक्ति की नई दुनिया का अन्वेषण किया। निर्मल जी ने अपने अनुभव-सम्पन्न और विचार-सम्पन्न गद्य से हिन्दी साहित्य को अविस्मरीय रूप से समृद्ध किया है। उनके निबन्ध, संस्मरण, यात्रावृत्त, उपन्यास, कहानियाँ, डायरी आदि गद्य विधाएँ अपने क्षेत्र के प्रतिमान हैं। इन विधाओं में निबन्ध साहित्य का एक बड़ा हिस्सा है और महत्वपूर्ण हिस्सा है। उनके अधिकांश निबन्ध चिन्तनप्रकर हैं। गोविन्द मिथ्र का मानना है कि निर्मल वर्मा का श्रेष्ठ उनके लेखों में उत्तरा है। (माध्यम, जनवरी-मार्च 2006, पृ. 09 हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)। निर्मल वर्मा ने अपने साक्षात्कारों में निबन्ध लिखने के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सुकान्त दीपक, सुशील सिद्धार्थ और प्रेम कुमार के साथ बातचीत में उन्होंने उन कारणों का उल्लेख किया है, जिन्होंने उनके भीतर निबन्ध लेखन की प्रेरणा उत्पन्न की। निर्मल वर्मा ने निबन्ध-साहित्य को अपने लेखन का महत्वपूर्ण और अनिवार्य हिस्सा माना है। उनके अनुसार—“जब समाज, साहित्य या संस्कृति के कुछ प्रश्न मुझे परेशान करते हैं और मुझे लगता है कि उनके बारे में स्पष्ट चिन्तन की जरूरत है ताकि वैचारिक कुहासे से बाहर जाया जा सके तो निबन्ध लिखने की आन्तरिक विवशता महसूस होती है। इस तरह की प्रश्नाकुलता, जो निजी धेरे से बाहर जाकर समूचे समाज की चिन्ता बनकर मुझे व्यक्तिगत तौर पर परेशान करने लगती है, जैसे धर्म और धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न (सुकान्त दीपक में बातचीत। संसार में निर्मल वर्मा पृ. 56)। प्रेम कुमार को दिए अपने साक्षात्कार में निर्मल जी ने विस्तार से अपने निबन्ध लेखन पर प्रकाश डाला है—“एक सीमा पर हमेशा मुझे महसूस हुआ कि अनेक ऐसी बातें, समस्याएँ, प्रश्न मुझे परेशान करते हैं, जिनका देश व जाति की

*डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर : हिन्दी, 65 आई जंगल सालिक राम, गोरखपुर-273014 (उ. प्र.) मो. 9950878347

नियति तथा अस्मिता से सीधा-सीधा सम्बन्ध होता है। भारतीय दृष्टि और भारतीयता की समझ के बारे में गलतफहमी जो औपनिवेशिक सत्ता की देन थी, अतीत और परम्परा का वह महत्व, जिसे आधुनिकता के आन्दोलन ने कहीं पीछे ठेल दिया था, प्रगतिशील आन्दोलन की सीमाएँ और उनकी भ्रान्तियाँ—ये सब ऐसे प्रश्न थे, जिन्हें मैं कहानियों या उपन्यासों में वस्तुप्रकाता के साथ प्रकट नहीं कर सकता था। इसके लिए एक नई विद्या चुनने की बाध्यता मेरे सामने आई—मुझे लगा चिन्तनपरक निबन्धों को अपनाना उचित होगा। इसलिए मैं अपने लेखन के इस चिन्तन पक्ष को उतना ही महत्वपूर्ण मानता हूँ, जितना कि तथाकथित सृजनात्मक पक्ष को (संसार में निर्मल वर्मा, पृ. 197)। इस प्रकार निर्मल वर्मा ने अपने निबन्धों में साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा, समाज, परम्परा, समकालीन ज्वलन्त प्रश्न जैसे विषयों पर बहुत ही स्पष्ट एवं दो-टूक अन्दाज में अपने विचार रखे हैं। निर्मल जी की स्पष्टवादिता को उनका दुर्लभ गुण बताते हुए रमेशचन्द्र शाह लिखते हैं—“निर्मल जी में अपनी लेखक विरादरी के लिए भी काफी असुविधाजनक सच बोलने का नैतिक साहस है (समय-संवादी, पृ. 134, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, संस्करण 2005)। यह सही है कि उन्होंने लेखकीय साहस का जो अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आधुनिक साहित्य में दुर्लभ है। उन्होंने जो समझौताहीन रुख अपनाया और किसी राजनीतिक समीकरण को महत्व नहीं दिया, वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यक्तित्व की याद दिलाता है, जिन्होंने अपने समय में भाषा-साहित्य और संस्कृति के विषय में बिना समझौता किए अपने विचार दृढ़तापूर्वक समाज के समक्ष रखे थे।

निर्मल वर्मा को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद निर्मित बौद्धिक गुलामी का वातावरण बहुत बेचैन करता है। इस बौद्धिक ने भारतवासियों की चेतना को कुठित किया है, उसे इस तरह पंगु बना दिया है कि वह इस गुलामी के बाड़े से निकलना ही नहीं चाहता। इस कारण भारतीय बौद्धिक क्षेत्र में एक प्रकार से कुहरे की स्थिति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इतने दिनों बाद तक बनी हुई है, जहाँ सभी मूल मान्यताएँ धुंधली दिखाई देती हैं। इससे हमारे साहित्य, चिन्तन और विचार को दुनिया विपन्न हुई है और कठिनाई यह है कि हमारा बुद्धिजीवी वर्ग इस वैचारिक विपन्नता के प्रति उदासीन है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—आजादी मिलने के बाद हमने अपनी मानसिक गुलामी का एक वृहत् शब्दकोश तैयार किया है, जहाँ अर्थों की व्यवस्था तो है, किन्तु वह व्यवस्था नहीं जिसके अर्थालोक में एक साधारण भारतवासी अपने जीवन की अर्थवत्ता ग्रहण करता है। इससे हमारे समाज का जो अहित हुआ है, वह तो आँखों के सामने है। किन्तु इससे हमारे साहित्य, चिन्तन और विचार की दुनिया कितनी विपन्न हुई है। इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।’’ (मानसिक गुलामी का शब्दकोश, दूसरे शब्दों में, पृ. 107)। निर्मल जी ने इस सन्दर्भ में जिन शब्दों की ओर संकेत किया है, वे प्रमुख शब्द हैं—धर्म मिरणेश्वता या सेक्यूलरिज्म, वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा तथा समाजवादी न्याय। निर्मल जी की दृष्टि में ये सभी शब्द पश्चिमी चिन्तन से आयातित हैं और जिनका हमारी विचार-परम्परा से

कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें धर्म निरपेक्षता शब्द ने हमारे देश की राजनीति को तो प्रदूषित किया ही है, हमारे समाज को बाँटा है, प्रशासन को पंगु बनाया है, हमारे इतिहास को विकृत किया है, भारतीय समाज को आत्म निर्वासन की स्थिति में डाला है। अनुवादजीवी मानसिकता के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोपीय चिन्तन के प्रति व्यापक व्यामोह भारत के तथाकथित पुनर्जागरण के दौर में प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध गाँधीवादी विचारक धर्मपाल लिखते हैं—“सन् 1803 ई. तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण अंश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन-पद्धति, ब्रिटिश विचार-पद्धति एवं अभिव्यक्ति-पद्धति को ऐसे अपना रहा था, मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो, उसके पास न अपनी प्रभा हो न प्रतिभा, न प्रतिमान।” (भारतीय चित्र मानस एवं कात, पृ. 53, पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद 20 मार्च, 2006)। इसी मानसिक पराजय ने हमें चिन्तन के क्षेत्र में अनुवादजीवी बनने को विवश किया। इसी का परिणाम है ‘रिलीजन’ के परिप्रेक्ष्य में ‘धर्म’ की व्याख्या। निर्मल वर्मा धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हुए लिखते हैं—“धर्म सिर्फ व्यक्ति के उन मताग्रहों का पुंज मात्र नहीं है, जिसे अपनी वैधता किसी चर्च, किसी प्रतिष्ठान, किसी पुस्तक से प्राप्त होती है। वह एक आइडियोलॉजी नहीं है। वह शाताब्दियों के अर्जित अनुभवों से निचोड़ा हुआ आत्मबोध है, जिसकी कसौटी पर हम झूठ को सच से, न्याय को अन्याय से, सत् को तमसु से अलग करने का प्रयास करते हैं (बीच की राह, दूसरे शब्दों में, पृ. 90)। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी ‘धर्म’ और मतवाद को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किए जाने के परिणामों की ओर संकेत करते हुए ‘धर्म’ के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष किया है—“मत या सम्प्रदाय के अर्थ में ‘धर्म’ शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियों से ही सीखा है। जब विदेशी भाषाओं के ‘मजहब’, ‘रिलीजन’ शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में ‘धर्म’ शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थों में, जो विदेशियों के आने के पूर्व रखे गए थे, कहीं पर भी ‘धर्म’ शब्द मत, विश्वास या सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत् उनमें सर्वत्र स्वभाव और कर्तव्य इन दो ही अर्थों में इसका प्रयोग पाया जाता है (धर्म और समाज/चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रतिनिधि संकलन, पृ. 81, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क नई दिल्ली, संस्करण 1997)। इस कारण भारतीय चिन्तन के अनुसार धर्मनिरपेक्ष होना कर्तव्य निरपेक्ष हो जाना है, मूल्य निरपेक्ष हो जाना है। रोय ने भी ‘धर्म’ और ‘रिलीजन’ के बीच के मूलभूत अन्तर को बहुत ही स्पष्टता के साथ रखा है—“वास्तव में जब हम मध्यकालीन ईसाई यूरोप और सांस्कृतिक भारतवर्ष की चर्चा करते हैं और दोनों के सन्दर्भ में एक ही शब्द ‘धर्म’ का उपयोग करते हैं तो भाषा की एक सीमा का आरोप अपने चिन्तन पर कर देते हैं। भारत का ‘धर्म’ और पश्चिम का ‘रिलीजन’ न तत्त्वतः एक ही चीज है, न एक ही दृष्टि का या एक ही जीवन-दर्शन का प्रतिविम्बन करते हैं। ‘धर्म’ धारण करता है, ‘रिलीजन’ बाँधता है—दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही इस भेद को स्पष्ट कर देती है, क्योंकि धर्म-दृष्टि विश्वमात्र की गति करे धर्मदंड के आस-पास घूमने वाला मानती

हुई मत, सम्प्रदाय और विश्वास के बारे में पूरी छूट देती थी, इसलिए इस देश में संस्कृति का धार्मिक होना हमारे लौकिक जीवन के लिए बाधा या प्रतिबन्ध न होकर सुरक्षा का आधार बन जाता था और बना रहा। दूसरी ओर पश्चिम के ‘रिलीजन’ की दृष्टि सबसे पहले मत-विश्वास को बाँधती थी, Credo (a set of belief) उसकी आधारशिला थी, इसलिए आरम्भ से ही उसमें धार्मिक और लौकिक के बीच विरोध का सम्बन्ध बन जाता था, भारतीय दृष्टि से संस्कृति के क्षेत्र में ‘धार्मिक बनाम लौकिक’ जैसा कोई विरोध सम्बन्ध बनता ही नहीं था, उसका सार्थक होना तो दूर की बात। दूसरी ओर पश्चिम के चिन्तन में आरम्भ से रिलीजियस बनाम सेक्यूलर अथवा सीक्रेट बनाम प्रोफेन का “बुनियादी छन्द रहा” (व्यक्ति और व्यवस्था : व्यक्ति और समाज, केन्द्र और परिधि, पृ. 160)।

इसी कारण निर्मल वर्मा ने अपने अनेक निबन्धों में यह चिन्ता व्यक्त की है कि ‘धर्म’ को ‘रिलीजन’ के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करना बहुत ही खतरनाक है और धर्म से निरपेक्ष रहने की बात सोचना आत्मघाती कदम। वे लिखते हैं—“क्या एक भारतीय के लिए ‘धर्म’ का वही भावार्थ है, जिसका सिक्का ‘रिलीजन’ की मुहर लगाकर पश्चिमी दुनिया में चलता है? यदि नहीं तो वह शब्द जो भारतीय मनीषा और मानस में इतना गहन और समृद्ध रोल अदा करता है, जो उसके भावनात्मक संसार के केन्द्र में है, उसके प्रति निरपेक्ष रहने के क्या मानी रह जाते हैं? यूरोप के राजनीति शास्त्र में ‘सेक्यूलरिज्म’ का जो अपना विशिष्ट इतिहास रहा है, उसका हमारी सांस्कृतिक पीठिका से दूर का लेना-देना नहीं है और संस्कृति में ‘धर्म’ की जो भूमिका रही है, उसकी यूरोप की उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से कोई तुलना नहीं, जहाँ चर्च और राज्य के बीच बराबर एक आक्रामक विरोध रहा है।” मानसिक गुलामी का शब्दकोश/दूसरे शब्दों में, पृ. 107)

यूरोप में ‘सेक्यूलरिज्म’ के उद्भव की अपनी पृष्ठभूमि रही है। वस्तुतः यह एक ईसाई अवधारणा है, जो राज्य और चर्च के बीच के अन्तःसम्बन्धों को लेकर चली एक लम्बी टकराहट की परिणति थी। राजनीतिक फलक पर धर्मनिरपेक्षता’ शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1648 ई. में तक हुआ जब यूरोप के गिरिजाघरों की सम्पत्ति पर वहाँ के राजकुमारों का वर्चस्य स्थापित हो गया। ऐसा निरन्तर तीस वर्षों के युद्ध के पश्चात् सम्भव हुआ। इस घटना के बाद पूरे यूरोप में गिरिजाघरों की सम्पत्ति को लेकर एक बहस छिड़ गई। फ्रांस की क्रान्ति के बाद 2 नवम्बर, 1789 को वहाँ की नेशनल एसेम्बली में टैरीलैंड महोदय के द्वारा की गई एक घोषणा के अनुसार गिरिजाघरों की सम्पूर्ण सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। पचास वर्ष बाद इंग्लैंड के रेशनलिस्ट आन्दोलन के नेता जार्ज जैकब हॉलियोक ने सन् 1846 ई. में तत्कालीन परिस्थितियों में अपनी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए एक नए शब्द सेक्यूलरिज्म का प्रचलन किया था, जिसका मूल अर्थ लौकिक या नैतिक होता है। हम सेक्यूलरिज्म शब्द का बार-बार पाठ करते हैं जिसका प्रयोग भारतीय संविधान के मूल रूप में अनुच्छेद 25 खंड दो के उपखंड

(क) में केवल एक बार किया गया है जिसके अन्तर्गत धर्म की स्वतन्त्रता के अधिकार का उपबन्ध किया गया है। आपातकाल के समय जब समूचा विपक्ष कारागार में था तब प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान की प्रस्तावना में दो शब्द ‘सोशलिस्ट’ और ‘सेक्यूलर’ जोड़ दिया, पर सेक्यूलर को कहीं परिभाषित नहीं किया गया। आज भी यह शब्द अपरिभाषित है।

यह ज्ञात तथ्य है कि भारतवर्ष प्राचीन काल से ही एक धार्मिक देश रहा है। पर यहाँ ‘धर्म’ का वह अर्थ नहीं रहा है, जो सामी संस्कृति में प्रचलित है। यहाँ सर्वत्र कर्तव्य या स्वभाव के रूप में इसका प्रयोग होता रहा है। इसलिए यहाँ धर्म के बिना जी पाना लोगों के लिए सम्भव नहीं है। पश्चिम की तरह भारत में धर्म और राज्य में कभी कोई गठबन्धन नहीं बना। धर्म की अवधारणा ने लोक को हानि नहीं पहुँचाई, वह सदैव निरपेक्ष सत्ता के तौर पर रहा और यदा-कदा राज्य की निगरानी करता रहा। पश्चिम की तरह भारत के किसी धर्म-गुरु ने कभी किसी राष्ट्र-राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी होना स्वीकार नहीं किया। अधिक-से-अधिक किसी ऋषि-मुनि, सन्त, योगी आदि ने संरक्षक होना जरूर स्वीकार किया। राज्य इनके लिए भोग की वस्तु नहीं था, अपितु दायित्व था। इसके विपरीत पश्चिम में तो चर्च, वेटिकन, पोप ने सत्ता पर ही कब्जा कर लिया। पोप तो पापमुक्ति के प्रमाण-पत्र भी बाँटने लगे और वेटिकन तो एक देश बन गया, जिसके राष्ट्राध्यक्ष पोप हो गए। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में आगे चलकर धर्म और राजसत्ता को अलग करना पड़ा। पश्चिम में धर्म के नाम पर बहुत अत्याचार हुए। भारत में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, कि किसी नवीन अवधारणा वाले व्यक्ति को जिन्दा जला दिया गया हो। मगर पश्चिम में अनेक व्यक्ति जिन्दा जलाए गए। इंक्विजिशन की आग भारत में नहीं पश्चिम में जलाई गई। भारत में धर्म और सत्ता विज्ञान का सहयोगी रहा है। इसलिए भारत में धर्म से दूर रहने या उससे तटस्थ रहने की या उससे निरपेक्ष रहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। भारतीय संस्कृति में जिन चार पुरुषार्थों की चर्चा की गई है, उनमें सबसे पहला पुरुषार्थ ‘धर्म’ ही है। इसलिए किसी भी भारतीय के लिए धर्म निरपेक्ष होना एक अजीब विडम्बनात्मक स्थिति है। अतः ‘धर्म निरपेक्षता’ एक अभारतीय अवधारणा है। इसे यहाँ स्थापित करने की चेष्टा में अँग्रेजी भाषी तथाकथित अभिजात वर्ग का योगदान है, जो अँग्रेजी में सोचता है, अँग्रेजी में बोलता है, अँग्रेजी में लिखता है, पश्चिमी विचारों का भारत में उल्था करता है। वस्तुतः ऐसे लोगों का जीवन अँग्रेजियत के लिए ही समर्पित है। निर्मल वर्मा भी मानते हैं कि इस तथाकथित ‘सेक्यूलरिज्म’ ने पश्चिम शिक्षित भारतीयों की मानसिकता को प्रदूषित किया है—‘हमारे तथाकथित सेक्यूलर राजनीति के साथ एक बड़ा पाखंड जुड़ा हुआ है, जिसने हमारी मानसिकता—खासकर आधुनिक पश्चिम शिक्षित भारतीयों की मानसिकता को इस तरह प्रदूषित कर दिया है कि जहाँ-जहाँ सच बोलने का जोखिम उठाना पड़ता है ठीक वहाँ चुप्पी के रिक्त स्थान दिखाई देते हैं (हमारी चुनी हुई चुप्पियाँ दूसरे शब्दों में, पु. 113)।

निर्मल वर्मा ने लगातार इस बात पर बल दिया कि भारतीय परम्परा में ‘धर्म’ का वह संस्थागत अर्थ नहीं है जो ‘रिलीजन’ शब्द में निहित है—“भारतीय परम्परा में सहज रूप में उस धर्म निरपेक्षता के तत्त्व मौजूद थे, जो हमने आजादी के बाद अपने संविधान में लागू किए... भारतीय परम्परा में धर्म का वह संस्थागत अर्थ नहीं है, जो ‘रिलीजन’ शब्द में निहित है। यदि आप इस्लाम को संस्थानिकी कृत (Institutionalise) धर्म मानकर उसे भारतीय समाज में एक अलग और विशेष दर्जा देते हैं तो स्वाभाविक रूप से यह तर्कपरक होगा कि आपको हिन्दुओं को भी अपनी सहज भारतीय अस्मिता को छोड़कर इंस्टीट्यूशनल धर्म के रूप में स्वीकार करना होगा जो कि वह है नहीं (धर्म और धर्मनिरपेक्षता, दूसरे शब्दों में, पृ. 228)। निर्मल वर्मा का यह कहना एकदम सही है कि ‘धर्मनिरपेक्षता’ शब्द का भारतीय परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है—“हिन्दुस्तान में धार्मिक परम्परा का बोध लोगों के जीवन की समरसता में रचा-बसा है...इस दृष्टि से भारतीय चरित्र के लिए ‘धर्मनिरपेक्षता’ या ‘सेक्यूलरिज्म’ असहज और आरोपित है...साम्प्रदायिकता और सेक्यूलरिज्म—दोनों ही सहज साम्प्रदायिक मर्यादा के अपदस्थ और भ्रष्ट रूप हैं, जिनका भारतीय संस्कृति के परम्परागत मनीषा से कोई सम्बन्ध नहीं है।” धर्म, लोकतन्त्र और साम्प्रदायिकता आदि अन्त और आरम्भ, पृ. 55 संस्करण 2001। इसी कारण निर्मल वर्मा बार-बार इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इस ‘धर्मनिरपेक्षता’ शब्द ने ही साम्प्रदायिकता की स्थिति उत्पन्न की है। वे आग्रह करते हैं कि भारतीयों के जीवन में सहज रूप से रचे-बसे धर्मावलम्बन के भाव को छद्म साम्प्रदायिकता से अलग करना होगा, जो असहज है और बाहर से आरोपित है। इस दृष्टि से भारतीय चरित्र के लिए धर्म निरपेक्षता या सेक्यूलरिज्म भी असहज और आरोपित है (क्यों भारतीय संस्कृति को बचाना जरूरी है, शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ. 173)। निर्मल वर्मा बराबर इस बात पर बल देते हैं कि साम्प्रदायिकता और सेक्यूलरिज्म दोनों ही सहज धार्मिक मर्यादा के अपदस्थ और अवमूल्यित रूप हैं।

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बड़े खतरनाक परिणामों को जन्म दिया है। इसने हमारी राजनीति, समाज-व्यवस्था, प्रशासन तन्त्र, साहित्य तथा संस्कृति को विकृत किया है। निर्मल जी इन सभी खतरनाक परिणामों के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हैं। वे बहुत ही अफसोस के साथ लिखते हैं कि एक भारतीय के लिए धर्मनिरपेक्षता आत्मनिर्वासन की अवस्था बनकर रह गई है। निर्मल वर्मा इसका सारा दोष सत्ताधीशों को देते हैं—“हमारे सत्ता-गुरु शासकों ने स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जन-साधारण को एक ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने के लिए बाध्य किया, जिसका उनसे कोई लेना-देना नहीं था और इस प्रक्रिया में उन्हें एक ऐसे सेक्यूलर व्यवस्था में रहने के लिए विवश किया जहाँ स्वयं उनकी धार्मिक आस्थाएँ एक हाशिए की चीज बनकर रह गईं। धर्म निरपेक्षता इस अर्थ में एक भारतीय के लिए आत्म निर्वासन की अवस्था बनकर रह गई (धर्म और धर्म-निरपेक्षता, आदि अनन्त और आरम्भ, पृ. 89)। निर्मल जी की दृष्टि में धर्म निरपेक्षता का एक बड़ा दुष्परिणाम समाज को

खतरनाक ढंग से अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक में विभाजित करने के रूप में सामने आया। निर्मल वर्मा इस विभाजन को अनुचित एवं भ्रामक मानते हैं।

वे इसे भी अनुचित बताते हैं कि भारत में अल्पसंख्यक का मतलब इस्लाम मतानुयायी होना है जबकि यथार्थतः वे अल्पसंख्यक नहीं रह गए हैं। वे इस विडम्बनापूर्ण स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि कश्मीर में हिन्दुओं और सिक्खों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है तथा शेष भारत में षड्यन्त्रपूर्वक हिन्दुओं को विभिन्न जातियों-अगड़े-पिछड़े-दलित में बाँटकर उन्हें हाशिए पर ढकेला जा रहा है और उन्हें असली अल्पसंख्यक बनाया जा रहा है (धर्म, लोकतन्त्र और साम्प्रदायिकता, आदि, अन्त और आरम्भ, पृ. 55)। यह राजनीतिज्ञों तथा उनके पिछलगू बुद्धिजीवियों के जघन्य और घृणास्पद चरित्र का निकृष्टतम उदाहरण है। सेक्यूलरिज्म की झंडाबरदार राजनीतिक पार्टियाँ किस प्रकार धार्मिक आस्था का शोषण करती रही हैं उसकी भर्त्तना करते हुए निर्मल वर्मा मानो समाज को सचेत करना चाहते हैं—“राष्ट्रीय स्तर पर मनुष्य की धार्मिक आस्था का शोषण हर सेक्यूलर पार्टी अपने निहित स्वार्थों के लिए करती है। अल्पसंख्यकों को राष्ट्र के भीतर हमेशा अल्पसंख्यक बनाए रखना ताकि वे अपने को हमेशा असुरक्षित महसूस करते रहें और इस असुरक्षा बोध को अपने बोटों से भुनाते रहें, जिसका परिणाम आज हम भुगत रहे हैं। यह संरक्षण और सुरक्षा के नाम पर भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन को हमेशा के लिए विभाजित रखने की स्वार्थपरक मानसिकता थी” (धर्म और धर्म निरपेक्षता, आदि, अन्त और आरम्भ, पृ. 95) निर्मल वर्मा के कथन की प्रामाणिकता तब और अधिक पुष्ट होती है जब हम विभिन्न राजनीतिक दलों और अन्य संगठनों के चरित्र का विश्लेषण करते हैं। जैसे काँग्रेस के लिए सेक्यूलरिज्म अल्पसंख्यकों को, जो मुस्लिम समुदाय के लिए ही रुढ़ हो गया है, पर जो वास्तव में अल्पसंख्यक नहीं हैं, डराने का हथियार है, समाजवादी पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी और जनता दल के लिए मुस्लिम बोटों को हथियाने का उपकरण है, अधिकांश स्वयंसेवी संगठनों के लिए एक प्रोजेक्ट मात्र है तथा तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिए संगोष्ठियों और सेमिनारों में न समाप्त होने वाला विषय है, जिसके सहारे वे अपनी रोजी-रोटी चलाते हैं, भाषण देते हैं, लेख लिखते हैं। यही कारण है कि निर्मल वर्मा का मानना है कि हमारे समाज में धर्मनिरपेक्षता का आन्दोलन दरअसल मुक्ति का आन्दोलन न होकर उन धार्मिक विश्वासों के विघटन को व्यक्त करता है जो एक समय में भारतीय जनता को इस धरती पर रहने का आश्वासन देते थे (कहानी : एक शुद्ध विधा?, ढलान से उत्तरते हुए, पृ. 29, संस्करण 1988 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)।

दरअसल, धर्मनिरपेक्षता आधुनिक भारतीय समाज में विशेषकर बौद्धिक समुदाय और राजनीतिज्ञों का जर्बदस्त पाखंड बनकर रह गया है। हमारे बुद्धिजीवी और राजनेता बार-बार धर्म को राजनीति से अलग करने की रट लगाए रहते हैं, उन पर टिप्पणी करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं—“धर्म को राजनीति से अलग करने वाले

हमारे प्रवक्ता हर मौके पर अपनी सुविधा-स्वार्थ के लिए धर्म के हर क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते हैं, किन्तु वह हमारी धर्म-परम्परा को इतना क्षीण, निस्तेज और निर्जीव ज़रूर कर देना चाहते हैं कि वह राजनीति पर किसी तरह का कोई नैतिक अंकुश न लागू कर सके। धर्म को समाज से निष्कासित करने के बाद जो आत्मशून्यता फैलती है, उसमें अनेक बीमारियों के बीज चाहे वह भौतिक लोलुपता हो, वैचारिक कटूरता हो, उपभोगी मनोवृत्ति हो—मौजूद रहते हैं (बीच की एक राह, दूसरे शब्दों में, पृ. 91)। इस प्रकार निर्मल जी इस बात पर बार-बार बल देते हैं कि जिस धर्मनिरपेक्षता को हम लोगों पर जबरन थोपने की कोशिश कर रहे हैं, वह एक विकृति को जन्म दे रही है और वह विकृति है साम्प्रदायिकता (साहित्य हमारी आत्मा का ब्लू फिल्म है, संसार में, निर्मल वर्मा पृ. 63, संस्करण 2006)।

धर्मनिरपेक्षता एक प्रकार से मूल्यहीनता का पर्याय है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—धर्म निरपेक्षता का विकृत रूप है—सनकी स्वार्थपरक मूल्यहीनता। पिछले तीस वर्षों में भारत में जिस भौतिक, परजीवी, आधुनिक जीवन-शैली का विकास हुआ है, उसी के भीतर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षी भौतिकता के विषये तत्त्व जन्मे और पनपे हैं। (व्यायों भारतीय संस्कृति को बचाना ज़रूरी है?, शताब्दी के ढलते वर्षों में, पृ. 175)। धर्मनिरपेक्षता की इस अवधारणा ने हमारे समाज में विविध धार्मिक विश्वासों के मुक्त आदान-प्रदान को बाधित किया है। निर्मल वर्मा लिखते हैं—‘स्वतन्त्र भारत में ‘धर्मनिरपेक्षता’ के नाम पर हमने आस्था और जिज्ञासा की खिड़कियों पर परदे गिरा दिए हैं। मनुष्य का धर्म उसका व्यक्तिगत सरोकार बनकर रह गया है। हमारे सार्वजनिक जीवन में विविध धार्मिक विश्वासों का मुक्त आदान-प्रदान नष्ट हो चुका है। हमें डर लगता है कि यदि हम खुलकर विभिन्न धार्मिक विश्वासों पर बातचीत करेंगे तो ‘साम्प्रदायिकता’ के दोषी ठहराए जाएँगे...गाँधी जी ने तो धर्मनिरपेक्षता के आधार पर नहीं, हर भारतीय की धार्मिक अस्मिता को स्वीकार करके इस देश में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया था। हिन्दुत्व के केन्द्र बिन्दु पर उन्होंने अन्य सब धर्मों को सम्मान दिया था। (संवाद मर्यादाएँ, कला का जोखिम, पृ. 55, संस्करण 1984)। गाँधी जी ऐसा करने में इसलिए सफल हुए, क्योंकि हिन्दुत्व में अन्य मतों के स्वीकार का भाव सदैव विद्यमान रहा है। यह इसलिए भी सम्भव हुआ, क्योंकि हिन्दू धर्म की इमारत किसी मत-विश्वास या एकान्तवादी मान्यता पर नहीं बनाई गई है, बल्कि सृष्टि मात्र के साथ सम्बन्ध पर आधारित है (धर्मनिरपेक्षता के दर्जे, केन्द्र और परिधि (अंजेय), पृ. 203)। निर्मल वर्मा स्वातन्त्र्योत्तर समाज में व्याप्त हिंसा और असहिष्णुता के वातावरण के लिए ‘सेक्यूलर’ मानसिकता को ही जिम्मेदार मानते हैं (भारतीय लेखक का स्वप्न और जिम्मेदारी, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 118)।

इसलिए भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षता की आयातित अवधारणा को आरोपित करने के लिए निर्मल वर्मा जहाँ एक ओर सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों को कठघरे में खड़ा करते हैं, वहीं इसकी जिम्मेदारी पश्चिमी मानसिकता में ढले भारतीय बुद्धिजीवियों पर

भी डालते हैं। उनकी दृष्टि में तथाकथित भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारत के लोकमानस को विकृत करने का प्रयास किया है। उनका कथन द्रष्टव्य है—“भारत के बाहरी शिक्षित वर्ग पर पश्चिम की उदारवादी लोकतान्त्रिक धारा का प्रभाव हमेशा रहा है, जिसकी अभिव्यक्ति एक ओर समाजवाद और दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षतावाद में हुई है। आज हमारे समाज में दोनों की जो दयनीय भूमिका देखने में आती है, वह हमारे बौद्धिक उथलेपन की निशानी है। बरसों से समाजवादी आन्दोलन, जो पश्चिम की नकल में—हमारे समाज को वर्गों में बँटा रहा है, वह उतना ही कृत्रिम है, जितना वह धर्मनिरपेक्षतावाद जो भारतीय समाज के धार्मिक स्वभाव को नकारकर उसे अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक सम्प्रदायों में विभाजित करने की चेष्टा करता रहा है। दोनों ने ही हमारी संस्कृति के उस लोक मानस को विकृत करने का प्रयास किया है, जहाँ लोकतन्त्र की मर्यादाएँ पिछले दो हजार वर्षों के दौरान एक विशिष्ट भारतीय परिवेश में विकसित हुई थीं। (वही, पृ. 117)। इस परिस्थिति के लिए पश्चिमी भाषा और शिक्षा से सम्पन्न बुद्धिजीवी वर्ग उत्तरदायी है, जिसने अपने अज्ञान की आड़ में समाजवाद, सेक्यूलरिज्म के तथाकथित क्रान्तिकारी नारों से अपने ही समाज की मूल मर्यादाओं को नष्ट करने का प्रयास किया है (वही, पृ. 118)। इस सन्दर्भ में तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका बहुत ही निराशाजनक है। उन्होंने सेक्यूलरिज्म के नकली नारों से देश की जातीय समग्रता को भग्न करने की भरपूर चेष्टा की है। इसके लिए सेक्यूलरिज्म के पक्ष में नारा लगाने वाला राजनेता वर्ग और बुद्धिजीवी समान रूप से अपराधी है। जिस प्रकार विकास के नाम पर इस वर्ग ने मनुष्य और प्रकृति के सहज सम्बन्ध को खंडित किया, ठीक उसी तरह एक तथाकथित ‘सेक्यूलर’ राज्यसत्ता के नाम पर उसने एक भारतीय के धर्म संस्कार और उसके सम्यता-बोध के बीच जो सम्बन्ध सदियों से चला आ रहा था, उसे भी खंडित किया (भारतीय जीवन की निराशाएँ, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 62)। निर्मल वर्मा इसे बौद्धिक दिवालियेपन और आत्मविस्मृति का प्रमाण मानते हैं, जिसकी मिसाल दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलती। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सत्तारूढ़ हुए वर्ग ने अपने तथाकथित धर्मनिरपेक्षी (जिसे धर्म अज्ञानी कहना अधिक उपयुक्त होगा) उत्साह में पश्चिम की भौंडी नकल करते हुए भारत के सार्वजनिक जीवन से इसके परम्परागत सम्यता बोध को प्रतिक्रियावादी और पिछड़ा मानकर बहिष्कृत कर दिया (धर्म और धर्म निरपेक्षता, आदि, अन्त और आरम्भ, संस्करण 2001, पृ. 94)।

इस धर्मनिरपेक्षता शब्द के अतिशय प्रयोग ने राजनीति को तो प्रदूषित किया ही, समाज-व्यवस्था को भी नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी, साथ ही साहित्य, इतिहास, संस्कृति, पत्रकारिता की दुनिया को विकृत किया, अपनी परम्परागत समृद्ध विरासत चिकित्सा की भारतीय पद्धति को उपेक्षित किया। समाज को अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक समुदाय में बँटने का यह परिणाम हुआ कि अल्पसंख्यकवाद धर्मनिरपेक्षता का पैमाना बन गया और बहुसंख्यक समुदाय की भावनाओं-संवेदनाओं के प्रति रुक्षान को

साम्प्रदायिकता की कसौटी माना जाने लगा। यह यहाँ तक हुआ कि ‘हिन्दू’ शब्द का उच्चारण ही साम्प्रदायिकता का प्रमाण हो गया और मुसलमान शब्द की रट धर्मनिरपेक्षता की कसौटी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जीवन-पद्धति के अनुयायी अपने को हिन्दू कहने में संकोच का अनुभव करने लगे। इसका इतिहास और संस्कृति की दुनिया पर बड़ा घाटक प्रभाव पड़ा। वैदिक-साहित्य, उपनिषद्, रामायण, महाभारत का नाम लेना भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आने लगा। रामविलास शर्मा ने बौद्धिक जगत् की इस विपन्न स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—‘हिटलर के अभ्युदय के समय जो स्थिति जर्मनी के वामपक्ष की थी, उससे मिलती-जुलती स्थिति बीसवीं सदी के अन्त में भारत के सौर विशेष रूप से हिन्दी प्रदेश के वामपक्ष की है। प्राचीन संस्कृति पर गर्व करना तो बहुत दूर की बात है, उसका नाम लेने से भी कुछ लोगों को उबकाई आने लगती है। अँग्रेजी राज कायम होने से पहले ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत की कोई भी उपलब्धि हो उसका जिक्र करते ही मार्क्सवादी मित्र कहते हैं कि यह पुनरुत्थानवादी है (जातीय संस्कृति और साम्राज्यवाद, भारतीय साहित्य की भूमिका, पृ. 340, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1996)। इसी बौद्धिक विपन्नता की चर्चा भगवान सिंह ने भी की है—‘ऋग्वेद में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि धरती धूमती है। परन्तु यदि किसी ने दावा कर दिया कि ऋग्वैदिक काल में भारतीय चिन्तकों को इस बात का ज्ञान था कि धरती धूमती है तो उसको पुनरुत्थानवादी ही नहीं उससे भी कुछ गर्हित सिद्ध किया जाना निश्चित है। इस नकारात्मक दृष्टि के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार हमारे वे इतिहासकार रहे हैं, जिनसे ही हम इस इतिहास के उद्धार की अपेक्षा कर सकते थे (आमुख, भारतीय सभ्यता की निर्मिति, पृ. 13/इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद)।

इस बिड्ढनापूर्ण स्थिति का एक परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दू संस्कृति पर आधारित रचनाएँ भी साम्प्रदायिकता के घेरे में आ गईं—तुलसीदास, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद यहाँ तक कि निराला भी हिन्दूवादी और साम्प्रदायिक रचनाकार घोषित कर दिए गए तथा मुस्लिम साम्प्रदायिकता का खुलकर पक्ष लेने वाले, शिकवा और जवाबे शिकवा के रचयिता, पाकिस्तान के सर्वप्रथम कल्पक इकबाल और ढाली सेक्यूलर। इतिहास में अकबर और औरंगजेब सेक्यूलर और महान् शासक हो गए तथा महाराणा प्रताप और शिवाजी साम्प्रदायिक। यह बौद्धिक षड्यन्त्र न्यस्त स्वार्थ के कारण स्वतंत्रता पूर्व रचा गया था, जो स्वतंत्रता के बाद भी चलता रहा। इसने भारतीय जनमानस में जहाँ एक ओर आत्महीनता का संचार किया, वहाँ विश्रम की स्थिति उत्पन्न करके समाज को बॉट दिया। इसे ही निर्मल वर्मा ने आत्म-निर्वासन की स्थिति कहा है। इस आत्मनिर्वासन की स्थिति से निकलना बहुत आवश्यक है। इसके लिए जरुरी है कि धर्मनिरपेक्षता की विकृति से शिक्षा, संस्कृति, राजनीति को अलग किया जाए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो भारतीय समाज में असहिष्णुता की वृद्धि होगी और आने वाली पीढ़ियाँ इसके भयंकर परिणाम की ज्वाला में और अधिक झुलसने के लिए अभिशप्त होंगी।

इस्लाम और मुसलमान

शंकर शरण*

एक विचार, विचारधारा या मतवाद तथा एक व्यक्ति या जन समुदाय में बुनियादी अंतर होता है। तदनुरूप उन दोनों के प्रति व्यवहार में भी अंतर होना ही चाहिए।

इस्लाम (जिसे हाल तक इस के अधिक सही नाम से पुकारा जाता था: मोहम्मेडनिज्म या मुहम्मदी मत) के मामले में प्रायः यह बात भुला दी जाती है। इस्लाम को मानने वाला व्यक्ति उस से उसी तरह बँधा जुड़ा नहीं है, जैसे उस की त्वचा का रंग या नस्ल। जैसे, कोई काला या गोरा है, तो वह आजन्म वैसा ही रहेगा। इसी तरह, कोई स्लाव या मंगोल नस्ल का है, तो उस के व्यक्तित्व का यह तत्व बदल नहीं सकता। किंतु इस्लाम एक मत है, इसे स्वीकारने वाले नए लोग आते हैं, तो इसे छोड़ कर जाने वाले भी हैं। अर्थात्, यह किसी के साथ जैविक जैसा स्थाई गुण नहीं है। यह स्वैच्छिक चुनाव है। धर्मांतरण के आवाहन भी इसी का प्रमाण हैं। अतः इस्लाम का जैवीकरण करने की भूल नहीं करनी चाहिए।

मतवाद, सिद्धांत, विचारधारा एक चीज है, मनुष्य दूसरी चीज। इसलिए मतवाद से हमारा बर्ताव और उसे मानने वाले मनुष्य से बर्ताव एक ही नहीं हो सकता। वैसे भी, जो मतवाद खुल कर राजनीति में संलग्न हो, जिस में दबदबे, डॉमिनेंस, राज्य, शासन, कानून, युद्ध, टैक्स, वैकिंग, आदि की शब्दावली प्रमुखता से स्थापित हो, वह सर्वप्रथम राजनीतिक विचारधारा है, जिस की आलोचना करना तो मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है! यह अधिकार न देने की जिद रखना स्वतः उस मतवाद का तानाशाही चरित्र प्रमाणित करेगा। इस पर चुप्पी उस तानाशाही को मान्यता देना हुआ, जो हर हाल में हानिकारक है।

इस्लाम की आलोचना को किसी समुदाय की ‘भावना’ को चोट पहुँचाना कहना कोरा अज्ञान या छलपूर्ण चतुराई है। किसी मत, विचार, सिद्धांत की उपयुक्तता का निर्णय भावना से नहीं होता। विशेषकर, ऐसा मत जो स्वयं को सत्य, बल्कि ‘एक

* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-1110016

मात्र' सत्य कहता हो, उसे तो सत्य की कसौटी पर खरा उतरना होगा। अन्यथा यह जबर्दस्ती हुई, जो उस के खतरनाक तानाशाही राजनीतिक चरित्र की ही पुष्टि करेगी।

इसीलिए, भारत के संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को सदा, सर्वदा के लिए स्थाई मान कर कोई समाधान नहीं सोचना चाहिए। विशेषकर तब, जब हिन्दू मुस्लिम के अंतर पर कभी खुल कर विमर्श किया ही नहीं जाता। उस पर एक तरह का प्रतिबंध लगा रहा है। जबकि यह गंभीर बिन्दु है, जिस में कई समस्याओं की जड़ छिपी हुई है। भारत और पाकिस्तान को, बल्कि भारत में भी हिन्दू और मुसलमानों को अलग करने वाली चीज केवल इस्लाम है। इस के सिवा हर चीज में वे एक जैसे हैं, क्योंकि वे एक ही ऐतिहासिक, नस्ली, सांस्कृतिक, भाषाई समूह हैं। भारत (और पाकिस्तान, बंगलादेश) के आम मुसलमान बाहर से आए लोग नहीं, न वे हमेशा से मुसलमान थे।

यही नहीं, यहाँ हिन्दू मुस्लिम आपसी संबंध बार बार बदलते रहे हैं। अतः अभी यह जहाँ, जैसा है, वैसा ही स्थाई मानकर चलना बड़े भ्रम का शिकार होना है। हाल का इतिहास गवाह है कि गाँधीजी, नेहरू और पूरी कांग्रेस ने इसी भ्रम में करोड़ों हिन्दुओं सिखों को अनजाने तबाह किया। आज सभी मानते हैं कि 1947 के देश विभाजन से 'वैसा होगा', यह किसी ने कल्पना नहीं की थी! सच तो यह है कि उस के बाद पाकिस्तान द्वारा 1948, 1965, 1971 और 1999 के आक्रमणों की भी नेहरू और कांग्रेस ने आशा नहीं की थी। फिर, भारतीय शासन में कश्मीर से हिन्दू मार भग दिए जाएंगे, इस की भी कल्पना नहीं की गयी थी।

प्रश्न है, क्यों नहीं की गयी थी, या क्यों नहीं कर सकेये उत्तर उसी बिन्दु में है जिसे ऊपर उठाया गया। मतवाद से बर्ताव, और उस मत को मानने वाले से बर्ताव में अंतर न रखने से यह भूल हुई। हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को स्थाई मानने से भूल हुई। क्योंकि किसी मतवाद विशेष का चरित्र ही इसे खारिज कर सकता है। यदि कोई मतवाद दूसरे मतों का कोई अधिकार स्वीकार ही नहीं करता, तो वह सह अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। तब वह निरंतर उसे तोड़ने, बदलने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। इसी तथ्य को नोट नहीं करने से गाँधीजी और कांग्रेस से वह भूल हुई, जैसी आज भी की जा रही है।

मुस्लिम गैरमुस्लिम सहअस्तित्व स्थाई नहीं है। इस्लाम और लोकतंत्र साथ नहीं रह सकता। शरीयत या इन्सानियत, दोनों में से एक ही बचेगी। यही वह मतवादी गुस्थी है, जिसे सुलझाए बिना किसी भी समाधान की आशा दुराशा रहेगी। इस्लाम को कृत्रिम, बाह्य मतवाद न मानने, और उसे मुस्लिम समुदाय का अंतर्गत, जैविक, अविभाज्य अंग मानने से ही मामला नस्ती जैसा रूप ले लेता है। मानो दो समुदायों में भेद और विवाद स्थाई हो। जबकि यहाँ करोड़ों मुसलमान दस ही पीढ़ी पहले मुसलमान नहीं थे। खुद जिन्ना और इकबाल, यानी पाकिस्तान के संस्थापक, के पूर्वज तीन ही पीढ़ी पहले हिन्दू थे।

अतः समझना होगा कि एकाधिकार, विशेषाधिकार और अलगाववाद इस्लामी मतवाद का अविभाज्य अंग है, जो लोकतंत्र और मानवीय विवेक, दोनों के विरुद्ध

पड़ता है। क्योंकि वह दूसरों को किसी हाल में बर्दाशत नहीं करता। लाचारी और चीज है, लेकिन इस से भी यही दिखता है कि मौका मिलते ही वर्चस्व, विशेषाधिकार या अलगाव की लड़ाई शुरू हो जाएगी। यह इतना पक्का है कि इस्लाम के अंदर भी मतभेद स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए शिया, अहमदिया, बंगाली, हजारा, यजदी, आदि का सामूहिक संहार होता है। एक जगह नहीं, हर देश में, जहाँ भी ताकत बढ़ी या मौका मिला, इस्लाम यही करता रहा है। इसीलिए, वर्चस्व, एकाधिकार और दूसरों को मिटाना इस्लाम का मूल सिद्धांत है। कुरान और हदीस में इस के अंतर्हीन आवाहन हैं। उसे झुठलाने, लीपा पोती करने, मीठी व्याख्या करने, आदि से आज तक कोई लाभ नहीं हुआ है, सिवा खुद भ्रमित रहने और दूसरों को भ्रमित करने के। वह मधुर व्याख्याएं प्रायः कोई मुसलमान नहीं मानता, जो खुद मूल किताबें पढ़ ले। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी संस्थान, बड़े ईमाम, अयातुल्ला प्रायः वह लीपापोती वाली बातें कभी नहीं करते, जो बौद्धिक बहस मुबाहसों में लेखक, नेता, प्रोफेसर आदि करते रहते हैं। इस्लाम की बातें बिलकुल साफ, सीधी और संक्षिप्त हैं, जिसे न समझना जानबूझ कर नासमझ बनना है।

दूसरे मर्तों, धर्मों, विचारों के साथ सह अस्तित्व को खुद इस्लाम जोर देकर खारिज करता है। अतः यह स्पष्ट जानना चाहिए कि इस्लामी मतवाद के साथ किसी मनुष्य का संबंध वैचारिक स्वीकार्यता पर निर्भर है। यदि कोई हिन्दू से मुसलमान बना था, तो वह उसी रास्ते से वापस भी आ सकता है। इस्लाम से वह अपना संबंध तोड़ सकता है। निस्सदेह, इस्लाम इसकी इजाजत नहीं देता!

आगे बढ़ने से पहले यह जान लेना उपयोगी होगा कि इस्लाम के संबंध में ऐसी बातें दुनिया के महानतम दार्शनिकों, चिंतकों और विद्व ग्रसिद्ध नेताओं ने भी कही हैं। आज नहीं, सदियों पहले से, विभिन्न देशों, कालों में, जिन में खुद मुस्लिम नेता व विद्वान भी रहे हैं। उन महानों में कुछ नाम इस प्रकार हैं—तॉकेविले, मार्टेस्क्यू, शोपेनहावर, वाल्टेर, दान्टे, मुस्तफा कमाल पाशा, बर्टेंड रसेल, विस्टन चर्चिल, जॉन एडम्स, डेविड ह्यूम, मुहम्मद इब्न जकरिया राजी, एडवर्ड गिब्बन, बर्नार्ड शॉ, मार्क ट्वेन, उमर खैयाम, थॉमस कार्लाइल, विलियम ग्लैडस्टोन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, आदि। इस से इतना समझ लेना चाहिए कि इस्लाम के प्रति आलोचनात्मक, सत्यनिष्ठ बातें कहने का आग्रह कोई हमारा नया प्रयत्न नहीं है। बल्कि पुराने सच को ही फिर से याद करने जैसा है, क्योंकि यह आवश्यक और आज के लिए अति प्रासादिक है।

यह सामान्य तथ्य है, जिसे मानने में शायद ही किसी को आपत्ति होगी कि कोई सच्चा ज्ञान—चाहे वह सामाजिक हो, या वैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक—वह स्वतः अपने बूते खड़ा होता है, या बूता न होने पर गिरता, ढहता भी है। किसी सच्चे सिद्धांत को मानने, मनवाने के लिए हिंसा नहीं करनी पड़ती। जैसे, गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत या योग विज्ञान। इसे लोग मानें, इस के लिए किसी वैज्ञानिक या योगी को धमकी

देने की जरूरत नहीं है! बल्कि उसे इस से कोई मतलब ही नहीं है कि लोग उसे मानते हैं या नहीं। अर्थात्, वैचारिक, धार्मिक अवधारणाएं यदि सत्य या उपयोगी हैं, तो अपनी सत्ता स्वयं मनवा सकती हैं। उस के लिए उन्हें अपने अनुयायियों, विश्वासियों द्वारा किसी मदद की जरूरत नहीं होती। जैसे, उपनिषद् या गीता का ज्ञान स्वयं अपनी उपयोगिता सिद्ध करता रहा है। उसे दुनिया में फैलाने, पढ़ाने के लिए किसी को लाठी या बंदूक दिखाने की आवश्यकता कभी नहीं पड़ी। और वह उपनिषद् और गीता मानवता के साथ हजारों वर्षों से है। यह उस की अपनी सामर्थ्य है।

जबकि कुरान में मौजूद अल्लाह और उस का पैगंबर, दोनों ही इस दृष्टि से पूर्णतः दुर्बल हैं। बिना हिंसा बल और उस के प्रयोग के वे चार कदम भी चलने में निहायत लाचार दिखते हैं। कुरान में दर्जनों ऐसी आयतें हैं जो गैर मुसलमानों को मार डालने और उन के प्रति साधिकार हिंसा का आदेश देती हैं। मुहम्मद की कोई भी जीवनी उठाएं, उस में उन के द्वारा लड़े गए युद्धों का वर्णन सविस्तार मिलता है। वे युद्ध भी अधिकांश दूसरों पर हमले और छल बल हिंसा द्वारा अधिकार जमाने के हैं, दूसरों द्वारा हमले पर बचाव के नहीं। युद्ध और विस्तार के इस दृश्य की तुलना में मुहम्मद को कहीं दार्शनिक प्रवचन देते या लोगों को अपने विचारों से कायल कर लेने का कोई उदाहरण शायद ही मिलता है।

इसी से यह बात समझी जा सकती है कि इस्लाम किसी को अपने घेरे से बाहर जाने की इजाजत क्यों नहीं देता, जबकि बाहर के लोगों को अंदर लाने के लिए सदैव लालायित रहता है। यह आरंभ से ही एक राजनीतिक विचारधारा है, कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक चीज नहीं। इस सचाई की परख चौदह सौ वर्षों के संपूर्ण इस्लामी इतिहास से हो सकती है। जिस तरह खुद उस के संस्थापक मुहम्मद को अपना दावा तलवार के बल पर ही मनवाना पड़ा, उसी तरह आज भी इस्लामी नेता, शासक, आलिम, प्रवक्ता, सभी केवल हिंसा और हिंसा की धमकी के सिवा कोई उपाय नहीं जानते। मुसलमानों को भी अपने अधीन रखने के लिए, उन की शंकाओं, आलोचनाओं को दबाने के लिए उन के पास मौत के फतवे के सिवा कोई उपाय नहीं। ऐसे मतवाद को स्थाई मानना बड़ी भारी भूल है। मानवीय विवेक इस के जाले झाड़ को आज नहीं कल साफ कर हटा देगा। जैसे, उस ने कम्युनिज्म का हटाया।

इसलिए, हिन्दू मुस्लिम संबंधों की समस्या को स्थाई सह अस्तित्व की दृष्टि से समझना, तय करना भूल है। इस का सैनिक तरीके या कानूनी उपायों से भी समाधान चाहना भी बेकार की बातें हैं। ऐसी कल्पनाएँ अज्ञानवश की जाती हैं।

इस्लाम के साथ बर्ताव संख्या बल पर नहीं, चेतना के बल पर करना सर्वाधिक उपयुक्त है। लोग किसी दिन इस्लाम में आए, और एक दिन छोड़ कर जाएंगे। यह परिवर्तनशीलता का अटल नियम है। यदि यह न होता, तो किसी शंका पर खुद मुसलमान लेखकों, कवियों, विचारकों, का कल्प करना और उन पर मौत के फतवे देने की कोई जरूरत नहीं थी। यह परिवर्तन रोकने का ही प्रयास है। मगर यह दयनीय है, जिसे समझने

और प्रकृति अनुरूप चलने देने पर जोर देने की जरूरत है। स्वेच्छा, न कि बल प्रयोग मानव समुदाय के सहज विकास की प्रवृत्ति है। इसे समर्थन देना चाहिए।

हिन्दू लोग भारत और सारी दुनिया में विभिन्न समुदायों के साथ रहते हैं। कहीं उन का झगड़ा किसी और समुदाय के साथ नहीं होता। तब मुसलमानों से ही क्यों होता है। दूसरी ओर, मुसलमानों का सारी दुनिया में हर कहीं, हर समुदाय के साथ झगड़ा है। कहीं वे शांति से रहते नहीं दिखते। ईसाई, यहूदी, बौद्ध, सिख, हर किसी से उन की लड़ाई चल रही है। इस की कोई व्याख्या नहीं, सिवा इस के कि इस्लाम का मूल सिद्धांत दूसरों के साथ स्थायी दुश्मनी है। पूरी कुरान में जो सब से अधिक दुहराई बात है, वह यही कि गैर मुस्लिमों को खत्म करो, उन्हें हीन अवस्था में रखो या उन्हें इस्लामी दायरे में लाओ। कुरान में 70 से अधिक आयतें ऐसे आवाहन करती हैं। दुनिया भर में मुसलमानों की लड़ाई की जड़ यही है।

मुसलमानों को इन आवाहनों की व्यर्थता से अवगत कराना ही एक मात्र उपाय है। इस की व्यर्थता समझना सरल भी है। जब आप जोर जबर्दस्ती किसी को मुसलमान बनाते रहे, उसी बल पर अपने अंदर रखते रहे—इस्लाम छोड़ने पर मौत की सजा का यही मतलब है—तब दूसरों से शिकायत की तुक ही क्या है? जब आपके पास ताकत थी, तो आपने अरब ही नहीं, यूरोप, अफ्रीका, और एसिया, जहाँ तक संभव हुआ, सब को खत्म किया, या मुसलमान बनाया। सारी आधिकारिक इस्लामी किताबें गर्व से इस का बयान करती हैं!

आज जिहादी खुली लड़ाई नहीं जीत सकते, इसलिए आतंकी हमले चल रहे हैं। यदि खुले सैनिक बल पर जीत सकते, तो सदियों पहले इधर हिन्दुस्तान, उधर रूस और स्पेन में इस्लामी सेनाएँ रुक नहीं गई होतीं। न ऑटोमन साम्राज्य और खलीफत खत्म हुई होती।

फिर सन् 1924 में तुर्की में, विश्व इस्लाम के खलीफा के केंद्र में, मुस्तफा कमाल पाशा ने उस खलीफत को यह कह कर खत्म किया कि इस्लाम और कुरान ‘मृत’ हो चुके हैं! पाशा ने सीधे आदेश दे कर तुर्की से विश्व इस्लाम के खलीफा के साथ साथ शरीयत, अरबी भाषा और इस्लामी वेश वृषा को देश निकाला दे दिया था। यह एक आधुनिक, लोकप्रिय मुसलमान ने किया था! भारत के मुहम्मद अली जिन्ना भी कमाल पाशा के दीवाने थे। क्या पता, यदि गाँधी राजनीति में न आए होते, या उन्होंने जिन्ना को उपेक्षित, तिरस्कृत न किया होता, तो आज भारत, और दुनिया की तस्वीर क्या होती!

फिर न केवल खुद सब से बड़े और लोकप्रिय तुर्क नेता ने इस्लाम को तुर्की से बाहर कर दिया था, बल्कि आज भी तुर्की में शरीयत का शासन नहीं है। चाहे, इस्लामवादी उस का प्रयत्न करते रहे हैं।

फिर सारा क्रोध ही इस बात पर है कि ‘एक मात्र सत्य’ का कुछ नहीं बन रहा। जबकि जिन काफिरों को मिट्टी में मिल जाना चाहिए था, वे हर चीज में आगे हैं। इतने

आगे कि हर चीज उन्हीं से लेनी, खरीदनी, माँगनी पड़ रही है। विज्ञान तकनीक की सारी उन्नति और सुविधा के सारे आविष्कार यूरोपियनों, अमरीकियों, एसियाइयों की देन हैं, जिन का उपभोग दुनिया भर के मुस्लिम भी करते हैं। लेकिन इस के लिए किसी को 'थैंक्यू' कहने के बजाए, सब को कोसने की मानसिकता है। इस मनोरोग को परखना चाहिए। मुस्लिम समाजों की अशान्ति चौदह सौ वर्ष पुराने विश्वास और आज की सचाई में ताल मेल न बिठा सकने की वजह से हैं। बाकी सारे कारण गौण या मनगढ़त हैं।

भारत में इस्लाम से वापसी की बात काल्पनिक समाधान नहीं है। सवा सौ वर्ष पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे सफलतापूर्वक, और शान्तिपूर्वक कर के दिखाया था। आर्य समाज का 'शुद्धि आंदोलन' यही था। जरूर कुछ आर्य समाजियों को इस के लिए बलिदान देना पड़ा। लेकिन वह तो उस की तुलना में शून्य था, जो उसे रोक कर गाँधीजी की 'सर्व धर्म सम भाव' की खाम खाली शुरू करने के कारण हुआ और आज भी हो रहा है।

इस्लामी जिद और दुराग्रहों को निरंतर आदर, और वरीयता देते जाने का ही फल पाकिस्तान बनना था, जिस के बाद करोड़ों लोग तबाह हुए। उस की तुलना में आर्य समाज के कुछ लोगों का अपना बलिदान कुछ न था! नोट करने की बात यह भी है, कि स्वामी दयानन्द का सम्मान बड़े बड़े मुस्लिम भी करते थे। उन पर सर सैयद की श्रद्धांजलि पढ़कर देखें। सचाई और साफगोई पर टिकने का यह स्वभाविक फल होता है। जबकि गाँधीजी की अस्थि प्रवाहित करने की इजाजत भी पाकिस्तान में नहीं मिली, जीवन काल में तो उन्हें मुस्लिमों का समर्थन नहीं ही मिला, जिन्हें जीतने की चाह में उन्होंने देश और अपना, दोनों का बलिदान कर दिया।

वस्तुतः यही समीकरण समझना जरूरी है। इस्लाम पर आलोचनात्मक विमर्श और सामुदायिक हिंसा में विपरीत अनुपात का संबंध है। इस्लाम पर जितनी ही खुली आलोचनात्मक बातचीत होगी, उतनी ही आपसी समझ बढ़ेगी, और हिंसा का कारण लुप्त होता जाएगा। इस के विपरीत, जितना ही इस्लाम को माँगों, निर्देशों, कानूनों पर चुप्पी रखी जाएगी, सामुदायिक तनाव, हिंसा को रोकना कठिन होता जाएगा। बल्कि, खुद इस्लामी फिरकों की आपसी हिंसा भी बढ़ेगी। क्योंकि 'इस्लामी शुद्धता' की माँग अंतहीन है। उसे संतुष्ट किया ही नहीं जा सकता।

व्यवहार में भी देखें कि इस्लाम की आलोचना करने वालों ने एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचाई। वे सदैव, निरपवाद रूप से मुस्लिमों के प्रति सदभावपूर्ण रहे। दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, टैगोर से लेकर आज राम स्वरूप, सीताराम गोयल, कोएनराड एल्स्ट, आदि सभी आलोचक निहायत अहिंसक लोग रहे हैं। इस के विपरीत, इस्लाम को भरपूर श्रद्धा सुमन चढ़ाने वाले जॉर्ज बुश, ब्लैयर से लेकर सदाप, खुमैनी, बगदादी, और तालिवान, जमात उल दावा, लश्कर-तैय्यबा, जैश मुहम्मद, हिजबुल मुजाहिदीन, इस्लामी स्टेट, आदि लोगों, संगठनों ने ही हजारों मुसलमानों को मारा है।

इस प्रकार, इस्लाम की आलोचना करना वास्तव में संपूर्ण इन्सानियत के हित में है, जिस में मुसलमान भी आते हैं। इस के विपरीत, पहले शरीयत की फिक्र करना पूरी इन्सानियत के विरुद्ध जाता है, जिस में मुसलमान भी मारे जाते हैं। इस सरल गणित को न देखना बुद्धि विरोधी है। मानवता के विरुद्ध तो है ही।

भारत में सही काम अभी तक नहीं हो सका, इस के मुख्य अपराधी वे सेक्यूलर प्रोफेसर, लेखक, संपादक हैं जिन्होंने इस्लाम के इतिहास और मतवाद पर विमर्श को जबरन दबा कर रखा। खुद मुसलमानों को भी बोलने नहीं दिया, जो अपनी मुक्ति की आवाज उठाते रहे हैं। अतः इस्लाम की रक्षा, वर्चस्व, आदर, आदि नाम पर जो भी हिंसा होती रही है, उस के मुख्य अपराधी वही सफेदपोश, भले दिखने वाले सेक्यूलर बौद्धिक हैं, जिन्होंने शरीयत का पक्ष लेकर इन्सानियत के स्वरों का सदैव दमन किया।

अतः इन्सानियत के पक्ष में जरूरी है कि इस्लाम के सिद्धांत व्यवहार पर विमर्श का रास्ता खोला जाए। तभी वह बौद्धिक जड़ता टूटनी शुरू होगी, जो हर प्रकार के जिहादी, आतंकी तैयार करती है। जिहादी आतंकवाद मुख्यतः दिमागी चीज है, जिस का इलाज सैनिक बल से नहीं, चेतना में बदलाव से ही हो सकता है। इस के लिए खुली बात चीत के प्रयास को हर संभव समर्थन दिया जाना चाहिए। वास्तविक समाजता, स्वतंत्रता और भाईचारे के लिए यह निहायत जरूरी है।

यह विलकुल साफ समाधान है। खासकर, जब दुनिया भर के अनेक प्रबुद्ध मुस्लिमों ने बार बार इस की माँग की है। गत सौ सालों में ऐसे विद्वान, जानकार मुसलमानों की अच्छी संख्या है जिन्होंने समय समय पर इस्लाम में सुधार या उस से मुक्ति की चाह व्यक्त की है। अनेकों ने खुद इस्लाम से नाता तोड़ने की घोषणाएँ की हैं। इन वराक, अनवर शेख, वफा सुल्तान, आदि कुछ नाम तो जाने माने हैं।

गैर मुस्लिम बौद्धिजीवियों, नेताओं, सत्ताओं द्वारा वैसे मुक्त मुसलमानों की उपेक्षा करना, और ऐसे लोगों का बौद्धिक दमन करना साफ अन्याय भी है। जबकि ऐसे लोगों ने अपनी ओर से कई गुना साहस दिखाया और खतरा उठाया है। उन की तुलना में हिन्दू सेक्यूलर नेता या हिन्दूवादी संगठनों द्वारा तो बहुत कम साहस की जरूरत है। उन्हें तो उन मुस्लिमों का स्वागत करना चाहिए जो बौद्धिक जड़ता से मुक्त होकर खुले विचार विमर्श की माँग कर रहे हैं।

समय आ गया है कि इन्सानियत पूरे मुस्लिम समुदाय पर अपना दावा करे। उसे शरीयत की कैद से आजाद होने में मदद करे। इस में कुछ भी अनुचित नहीं है। ‘आया है जो जाएगा’ का सिद्धांत शासनों, विचारधाराओं, मतवादों पर भी लागू होता है। कोई उस से परे नहीं।

मानवता एक है, दो नहीं। लेकिन ‘बिलीवर’ और ‘अनबिलीवर’, ‘मोमिन’ और ‘कफिर’, ‘दारुल हरब’ और ‘दारुल इस्लाम’ की शब्दावलियाँ ही इसे खंडित करती हैं। इसे समझे और दृढ़तापूर्वक खारिज किए बिना किसी स्थायी समाधान की आशा नहीं की जा सकती।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

गंगा की निर्मलता, पावनता एवं संस्कृति के प्रतीक—मनीषी

डॉ. कमल किशोर गोयनका

भारत के कुछ प्रान्तों के पूर्व राज्यपाल, कोलकाता विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य तथा हिन्दी के विख्यात साहित्यकार श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्री को मैं जब भी स्मरण करता हूँ अथवा वे जब भी अपने साहित्यिक या राजनीतिक कृतित्व के कारण मेरे सम्मुख होते हैं तो गंगा की निर्मलता, पावनता और निरन्तर प्रवाहित होने वाली उसकी सांस्कृतिक धारा का बिन्दु मेरी आत्मा में उतरने लगता है और मुझे गहरी प्रतीति से भर जाता है। भारतीय क्रष्णियों और मनीषियों ने मनुष्य के श्रेष्ठ मनुष्यत्व तथा विद्यमान देवत्व को प्राकृतिक उपादानों से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री ऐसे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं जिनके साहचर्य से देवत्व की अनुभूति होती है और वह गंगा के निर्मल, पावन और संस्कृतिमय व्यक्तित्व से ही स्पष्ट हो सकती है। गंगा की यह भी विशेषता है कि वह विश्व के सर्वोच्च पर्वत-माला से जन्मी है और लम्बी यात्रा के बाद सागर की अतल गहराइयों में विलीन हो जाती है। आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में भी हिमालय जैसी ऊँचाई और गरिमा है तथा सागर जैसी अथाह गम्भीरता है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व हिमालय, गंगा और सागर का समुच्चय है जो मेरे युग में एक असाधारण घटना है। वे एक असाधारण व्यक्तित्व के धनी हैं, परन्तु उनका असाधारणत्व साधारणता से उत्पन्न होता है। महात्मा गाँधी जैसे साधारण होने के कारण ही असाधारण थे, वैसे ही शास्त्री जी भी अपने साधारणत्व में ही विशिष्ट और असाधारण हैं। शास्त्री जी के समर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यही अनुभव है कि वे अत्यन्त सहज, सरल और सामान्य मनुष्य हैं और उनमें अहं, अपने को श्रेष्ठ समझने

* डॉ. कमल किशोर गोयनका, उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल, हिन्दी संस्थान मार्ग, आगरा 282005 (भारत); पता : A-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, फोन : 27219251 तथा 27132906

का भाव उनमें दूर-दूर तक भी नहीं है। इसीलिए वे अजातशत्रु हैं, वे सबके मित्र हैं, हित-चिन्तक हैं, सबका कल्याण चाहते हैं, सबको अपना स्नेह और आशीर्वाद देते हैं और सच तो यह है कि वे उन सभी के हैं जो मनुष्य हैं, देश-प्रेमी हैं, भारत माता के सेवक हैं, देश की अस्मिता और संस्कृति के रक्षक हैं। उनके लिए धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि की संकीर्णता और बन्धन निरर्थक हैं, बस महत्वपूर्ण है मनुष्यता, समाज का कल्याण, राष्ट्र-चेतना और संस्कृति की रक्षा। इसीलिए मुझे शास्त्री जी का जीवन, विचार और कर्म गंगा के समान लगता है। उनका साहचर्य और भावनाओं-विचारों का संस्पर्श सभी को निर्मल और पावन बना देता है और भारत राष्ट्र एवं उसकी संस्कृति के प्रति समर्पित बना देता है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क लगभग तीस वर्ष पुराना है। मैंने सन् 1970-71 में प्रेमचन्द्र पर अपना पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय में जमा कर दिया था और अपनी नई योजना पर सोच-विचार तथा विचार-विमर्श कर रहा था। तभी मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा था और उनका अनुमोदन मिला था। उस समय तक मैं शास्त्री जी के एक-दो व्याख्यान सुन चुका था और उनकी ख्याति दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा हिन्दी-संसार तक हो चुकी थी। प्रो. कल्याणमल लोड़ा जी से जब-तब भेंट होती रहती थी तथा वे ‘भारतीय साहित्य परिषद्’ के अधिवेशनों में भी प्रायः आते थे और तब अवश्य ही शास्त्री जी की चर्चा होती और वे उनकी खूब प्रशंसा करते। इस प्रकार शास्त्री जी मेरे मन के उस स्थान पर बैठ चुके थे जहाँ बैठे व्यक्ति से श्रद्धा ही हो सकती है तथा उसे पथ-पदर्शक ही बनाया जा सकता है। मुझे आज भी अपनी इस आकांक्षा का स्मरण है जब मेरे मन में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का शिष्य बनने की इच्छा उत्पन्न हुई थी। मैं डॉ. नगेन्द्र का शिष्य था, लेकिन वे शिष्यों को दूर रखते थे और शिष्य भी उनके व्यक्तित्व से भयभीत रहते थे। डॉ. नगेन्द्र के साथ शिष्यों का सहज-सीधा संवाद असम्भव ही था, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भारत की उस गुरुकुल परम्परा के आचार्य थे जिनके लिए सभी शिष्य उनके परिवार के ही अंग थे और वे अपने शिष्यों के व्यक्तित्व के समग्र विकास को शिक्षण का अनिवार्य हिस्सा मानते थे। मैं आज जो कुछ भी हूँ, जैसा कुछ भी हूँ तथा जो कुछ भी थोड़ा-सा कर पाया हूँ, निश्चय वह उससे बेहतर होता यदि मैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जैसे गुरु का शिष्य होता। मेरा विश्वास है, इस जन्म में नहीं तो आगामी जीवन में मुझे ऐसा सौभाग्य मिलेगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मेरा सम्पर्क सातवें दशक में हो चुका था। प्रेमचन्द्र पर मुझे पी-एच.डी. की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से मिल चुकी थी और मैं अपनी नई योजना का प्रारूप तैयार कर रहा था कि मैकमिलन कम्पनी ने अपना हिन्दी प्रकाशन खोला और मेरे मित्र विश्वप्रकाश गुप्त उसके इंचार्ज बने। उन्होंने मुझे

हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की एक बड़ी योजना बनाने के लिए कहा तो मैंने उन्हें 24 पुस्तकों की एक प्रकाशन-माला का प्रारूप बनाकर दिया। इस योजना के प्रो. विजयेन्द्र स्नातक और मैं दो सम्पादक बने। इसके साथ ही ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ की योजना भी चल रही थी। मैं चाहता था कि शास्त्री जी इन दोनों ही योजनाओं को अपना आशीर्वाद दें। इस सम्बन्ध में मैंने उन्हें पत्र भेजा और उन्होंने 20 जुलाई, 1975 को लिखे पत्र में लिखा, “भविष्य में अवकाश रहा तो मैकमिलन की योजना के लिए लिखूँगा। ‘प्रेमचन्द साहित्य कोश’ के लिए ‘प्रेमचन्द और बँगला साहित्य’ पर एक टिप्पणी लिखकर यथासमय भेजूँगा।” यह शास्त्री जी का गुण ही है कि वे एक साधारण अध्यापक की प्रार्थना को भी सम्मान देते हैं, यद्यपि मैकमिलन की योजना बीच में ही खत्म कर दी गई। मैकमिलन में हिन्दी विभाग के इंचार्ज डॉ. माहेश्वर बने और वे कम्युनिस्ट थे और कम्युनिस्ट लेखक ही उनके विशेषज्ञ तथा परामर्शदाता थे। वे मेरे जैसे राष्ट्रवादी लेखक को बरदाशत नहीं कर पाए और दो पुस्तकों के प्रकाशन के बाद उन्होंने योजना ही समाप्त कर दी। यह कम्युनिस्ट माफिया का मुझ पर पहला आक्रमण था जिससे महीनों की मेहनत और एक महत्वपूर्ण पुस्तक-माला जन्म लेते ही नष्ट हो गई। कम्युनिस्ट फासीवाद का यही चेहरा आज की भारत सरकार के सहयोगी कम्युनिस्टों का भी है जो सुरजीत सिंह के शब्दों में किसी दूसरे विचार के लोगों को पद एवं सत्ता में सहन नहीं कर सकते। डॉ. माहेश्वर के इस फैसले से एक लाभ अवश्य हुआ कि मैं पूरी तौर पर ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ की योजना पर लग गया। इसके बाद मैं 27 जुलाई, 1975 को इन्दिरा गांधी की इमरजेंसी में गिरफ्तार हुआ और लगभग दो महीनों के बाद जमानत पर रिहा हुआ और फिर मैं प्रेमचन्द के कार्य में ही मग्न हो गया।

प्रेमचन्द की जन्म-शताब्दी सन् 1980 में होगी, इसे ध्यान में रखकर मैंने दिल्ली में ‘प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति’ का गठन किया और जैनेन्द्र कुमार को अध्यक्ष बनाया एवं उनके आग्रह पर तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी इसकी संरक्षक बनीं। इसका एक बड़ा कार्यक्रम नई दिल्ली फिक्की हॉल में हुआ और अमृतगय ने मेरी ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ के आरम्भिक दो खंडों का विमोचन किया और इसी ग्रन्थ पर भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता ने 11 जनवरी, 1984 को ‘नथमल भुवालका पुरस्कार’ देने की घोषणा की तो शास्त्री जी ने मुझे इसी तिथि को अपने पत्र में बधाई देते हुए लिखा, “‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ को पुरस्कृत कर भारतीय भाषा परिषद् ने गम्भीर शोधवृत्ति को सम्मानित किया है। मुझे इस निर्णय से हार्दिक प्रसन्नता हुई है। फरवरी के प्रथम सप्ताह में आप कलकत्ते आएंगे ही, तब मिलकर और बातें होंगी ही। ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ की विवेचनात्मक संस्तुति उस उत्सव में करने का दायित्व मुझे ही सौंपा गया है, इसकी भी मुझे प्रसन्नता है।” मेरे लिए यह अकल्पनीय था, परन्तु इसमें शास्त्री जी का स्नेह और आशीर्वाद था जो ईश्वर की कृपा से मुझे सहज

रूप में प्राप्त हो रहा था। इस पुरस्कार-समारोह में देश के राष्ट्रपति जैल सिंह पहुँचे और उन्होंने पुरस्कृत एवं सम्मानित किया। इस अवसर पर शास्त्री जी से भेंट हुई और उन्होंने आशीर्वाद प्रदान किया और कुछ समय बाद ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ पर उनका विस्तृत लेख प्रकाशित हुआ और उसका शीर्षक था ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ : दृढ़निष्ठा का साहसिक प्रयोग’। इस लेख के अन्त में शास्त्री जी ने लिखा, “प्रेमचन्द शतवार्षीकी के अन्तर्गत सारे देश में छोटे-बड़े समारोह हुए, कई प्रकाशन हुए। सबका अपना-अपना महत्व है, किन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा परिकल्पित, लिखित एवं सम्पादित ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ इस शतवार्षीकी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हिन्दी में यह अपने प्रकार का पहला कार्य होने पर भी डॉ. गोयनका ने जिस पूर्णता के साथ उसे प्रस्तुत किया है, वह उनकी मौलिक सूझ-बूझ एवं प्रेमचन्द के प्रति उनकी समर्पित निष्ठा का द्योतक है। वास्तव में, यह डॉ. गोयनका की दृढ़ निष्ठा का साहसिक प्रयोग है, क्योंकि इस महान कार्य में आने वाले बड़े-बड़े संकटों को झेलते हुए वे दृढ़ निष्ठा से अनेक वर्षों तक इस कार्य को पूरा करने में लगे रहे। प्रेमचन्द शतवार्षीकी के अवसर पर उनके जीवन एवं साहित्य के अनुरूप ही समर्पित यह श्रद्धांजलि—‘प्रेमचन्द विश्वकोश’, प्रेमचन्द के साथ ही सदैव याद की जाती रहेगी।” शास्त्री जी के इस लेख तक ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ पर कुछ समीक्षाएँ छप चुकी थीं, परन्तु शास्त्री जी के इन शब्दों से मुझे जो बल एवं सन्तोष मिला और अपने कार्य पर जो विश्वास उत्पन्न हुआ, उसे शब्दों में वर्णित करना सम्भव नहीं है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के प्रोत्साहन, समर्थन और आशीर्वाद के कारण मुझे प्रेमचन्द पर अपनी स्थापनाओं को लिखने और विरोधियों का सामना करने का साहस उत्पन्न हुआ। प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी तक यह स्पष्ट हो चुका था कि देश के कम्युनिस्ट लेखक मेरे शोध एवं नई स्थापनाओं पर राजनीतिक स्वार्थों के कारण एकजुट होकर उन पर आक्रमण करने लगे थे और वे मेरी स्थापनाओं का उत्तर न देकर मेरा चरित्रहनन करने में लग गए थे। मैंने अपने दस्तावेजों से उनके जीवन के अनेक झूठे मिथकों को तोड़ा था तथा उन्हें कम्युनिस्ट लेखक बनाने के कम्युनिस्टी घड़यन्त्र का पर्दाफाश करते हुए प्रेमचन्द की भारतीयता की वास्तविक मूर्ति को स्थापित किया था। प्रेमचन्द को लेकर हिन्दी के तथाकथित प्रगतिशील लेखकों, समीक्षकों तथा कम्युनिस्ट नेताओं के छल-कपटपूर्ण स्थापनाओं की सरेआम चुनौती देने का यह पहला अवसर था और वे इस दुस्साहस को सहन करने को तैयार न थे। डॉ. सुधीश पचौरी ने सन् 1978 में ‘आतोचना’ में मुझे ‘गाय छाप’ लेखक लिखा और कुछ वर्षों के बाद मुझ पर प्रेमचन्द को ‘हिन्दू’ बनाने का आरोप लगाया। मलयज ने अपनी डायरी के सन् 1979 के एक पृष्ठ में मेरी नई स्थापनाओं की चर्चा के साथ लिखा कि गोयनका जनसंघी हैं, इस कारण वे ऐसा लिखेंगे ही। हैदराबाद में आयोजित एक प्रेमचन्द-शताब्दी कार्यक्रम में तो वामपन्थी लेखक वेणुगोपाल ने तो मुझे देख लेने तक की धमकी दे दी।

उस कार्यक्रम में डॉ. नामवर सिंह भी थे और उन्होंने अपने भाषण में यह कहा कि ‘गोदान’ का होरी एक हिन्दू किसान है और यह होरी ही प्रेमचन्द हैं। मैंने तत्काल खड़े होकर कहा कि मैं डॉ. नामवर सिंह के इस नए चिन्तन का समर्थन करता हूँ तो वेणुगोपाल ने मंच पर आकर बौखलाते हुए कहा कि डॉ. नामवर सिंह बताएँ कि वे गोयनका के करीब आए हैं या गोयनका उनके करीब आए हैं? इसके बाद गोष्ठी के अन्त में उन्होंने मुझे देख लेने तक की धमकी तक दे डाली। ऐसी अनेक घटनाएँ विगत तीस-पैंतीस वर्षों में मेरे साथ घटित हुई हैं, परन्तु यहाँ एक घटना का और उल्लेख करना आवश्यक है। अमृतसर में डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने प्रेमचन्द-शताब्दी पर कार्यक्रम किया तो मुझे भी आमन्त्रित किया। इस कार्यक्रम में भी प्रेमचन्द पर मेरा कार्य और मेरी स्थापनाएँ ही केन्द्र में रहीं। अनेक वामपन्थी लेखकों एवं प्रोफेसरों ने मुझ पर चोटें कीं, परन्तु वामपन्थी प्रोफेसर एवं समीक्षक डॉ. शिव कुमार मिश्र ने कहा कि हमारी तकलीफ यह है कि गोयनका ने प्रेमचन्द पर जो कार्य किया वह हमने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर आज तक भी हिन्दी के वामपन्थी लेखक नहीं दे पाए, यद्यपि शास्त्री जी ने इसका उत्तर दे दिया था कि दृढ़ निष्ठा, साहस और कठोर परिश्रम से ही ऐसा कार्य हो सकता है।

‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ के दो खंड प्रकाशित होने के बाद मैंने कुछ और योजनाओं पर भी काम शुरू कर दिया था। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का 19 मई, 1979 को देहान्त हो गया तो मैंने उनके संस्मरणों को एकत्र करना शुरू किया तो आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री से सम्पर्क करना अनिवार्य था। मैं जैसा पहले लिख चुका हूँ कि मेरे लिए दोनों आचार्य गुरु-तुल्य थे तथा मुझे ज्ञात था कि शास्त्री जी के द्विवेदी जी से बड़े आत्मीय सम्बन्ध रहे हैं। इन दोनों विद्वानों में ऐसे सम्बन्ध होना स्वाभाविक था, क्योंकि आयु-भेद एवं पद-भेद होने पर भी दोनों में समान गुण थे। शास्त्री जी जब एम.ए. के छात्र थे, तब से उनके द्विवेदी जी से सम्बन्ध बने और जीवन-पर्यन्त बने रहे। अतः मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा कि वे द्विवेदी जी पर लिखे अपने संस्मरणों को ‘हजारी प्रसाद द्विवेदी : कुछ संस्मरण’ पुस्तक में संकलित करने की अनुमति प्रदान करें। शास्त्री जी ने मुझे अपने 18 अगस्त, 1982 के उत्तर में लिखा, “आपके उद्यम पर मुग्ध हूँ। ‘सारिका’ के दफतर से समीक्षा के मूल रूप का उद्धार करने के लिए धन्यवाद। हस्ताक्षर कर भेज रहा हूँ। आचार्य द्विवेदी जी पर मेरे दो संस्मरण हैं। एक मेरी पुस्तक ‘संस्मरण को पाथेय बनने दो’ में छपा है। दूसरा संस्मरण आचार्य द्विवेदी के महाप्रयाण के बाद मैंने ‘रविवार’ के लिए सुरेन्द्र प्रताप के अनुरोध पर लिखा था, उसमें छपा भी था। आप चाहें तो मेरे दोनों संस्मरण अपनी पुस्तक में छाप लें, चाहे तो जो प्रिय लगे, उसे छापें।” यह संस्मरण की पुस्तक सन् 1982 में प्रकाशित हुई और समीक्षकों ने शास्त्री जी के संस्मरणों की बड़ी सराहना की, लेकिन मेरे लिए यह गर्व की बात थी कि शास्त्री जी मेरे प्रत्येक कार्य में प्रोत्साहन और सहयोग दे रहे थे और हर कदम पर मेरी पीठ ठोक रहे थे।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी से मैं अब इतनी आत्मीयता अनुभव करने लगा था कि मुझे उनमें अपने संरक्षक होने की प्रतीति होने लगी थी। शास्त्री जी अब जब भी दिल्ली आते तो मुझे पोस्टकार्ड लिखकर सूचना देते और प्रायः उनसे भेंट होती तो मेरे कार्यों के बारे में पूछते और मेरी पदोन्नति के सम्बन्ध में भी वे बराबर जानना चाहते। एक बार कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मेरे आग्रह पर वे मेरे घर आने को तैयार हो गए। असल में उस दिन उनके पास कुछ समय था और मेरी कॉलोनी अशोक विहार के निकट की एक अन्य कॉलोनी शक्ति नगर में सम्भवतः उन्हें अपनी पुत्री से भी मिलना था। यह मेरा सौभाग्य ही था कि ईश्वर ने ऐसा संयोग बनाया। हम दोनों पहले ऑटो में शक्ति नगर आए और फिर वे मेरे साथ मेरे घर अशोक विहार गए। मेरा पूरा परिवार उनकी प्रतीक्षा में था ही। वे काफी समय तक रहे, पत्नी और बच्चों से बातें कीं और वे इतने सहज हो गए कि पत्नी ने अपनी कुछ जिज्ञासाएँ उनके सम्मुख रखीं। पत्नी ने एक प्रश्न पूछा कि मैं जब पूजा के समय ध्यान करती हूँ तो मन तरह-तरह की बातें सोचने लगता है और ध्यान भंग हो जाता है। अतः इस मन को कैसे एकाग्र किया जाए? शास्त्री जी कुछ मुस्कराएँ और बोले, “यह तो बड़े-बड़े ऋषियों के साथ भी होता है। मेरे साथ भी होता है। मन चंचल है, वह एक बिन्दु पर टिका नहीं रह सकता, लेकिन बार-बार अभ्यास से उसे अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। मन की चंचलता से डरना नहीं चाहिए और न ही भागना चाहिए, बस बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए।” पत्नी आज भी शास्त्री जी के इस समाधान को याद करती हैं और उनके ज्ञान, स्नेह तथा आशीर्वाद की अनुभूति का वर्णन करती हैं। ऐसे ही अपनत्व, आत्मीयता तथा पारिवारिकता का मैंने उस समय अनुभव किया जब भाजपा के शासन-काल में संस्कृति मन्त्रालय में उनसे भेंट हुई और वे मुझे डॉ. मुरली मनोहर जोशी से मिलाने ले गए। शास्त्री जी ने डॉ. जोशी से मेरा परिचय देते हुए कहा, “ये कमल किशोर गोयनका हैं जिन्होंने हिन्दी के विश्व-विद्यात साहित्यकार प्रेमचन्द को कम्युनिस्ट खेमे से निकालकर भारतीयता की धारा में स्थापित किया है।” डॉ. जोशी का उत्तर मेरे लिए अप्रत्याशित था। वे बोले, “शास्त्री जी, मैं गोयनका के नाम और काम दोनों को जानता हूँ। इन्होंने जो कार्य किया है, वह ऐतिहासिक है और उससे प्रेमचन्द की वास्तविक मूर्ति सामने आई है।” इसके उपरान्त कुछ समय तक बातचीत होती रही, चाय आयी और मैं अपनी खोज के संकटों तथा कम्युनिस्टों के आक्रमणों का इतिहास बताता रहा। शास्त्री जी चाहते थे कि मेरे शोध-कार्य को देखते हुए मुझे शीघ्र ही प्रोफेसर हो जाना चाहिए था। उन्होंने अपना यह मन्तव्य भी डॉ. मुरली मनोहर जोशी के सम्मुख रखा और उसके बाद भी वे निरन्तर इसकी पूछताछ करते रहे। शास्त्री जी का आशीर्वाद मेरे साथ था, परन्तु ईश्वर की इच्छा कुछ और थी। शास्त्री जी ने मुझे 21 अगस्त, 1987 को अपने में लिखा भी था, “प्रभु कृपा से आप सानन्द रहें और शीघ्र ही अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त करें।” परन्तु हिन्दी का

कम्युनिस्ट माफिया शैतान की शक्ति और स्टालिन के फासीवाद का अनुयायी है। उन्होंने हर बार मेरा विरोध किया और इंटरव्यू में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर भी एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर ने चयन-समिति में कहा कि हम गोयनका को प्रोफेसर नहीं होने देंगे। इस एक कम्युनिस्ट प्रोफेसर की धमकी और हथकड़ेबाजी ने चयन-समिति के अन्य सदस्यों को नपुंसक बना दिया और कुलपति ने फिर किसी की नियुक्ति नहीं की। कम्युनिस्ट अपनी योजना में सफल हुए और न्याय का चेहरा अन्याय एवं फासीवाद ने काला कर दिया। कम्युनिस्ट माफिया आज भी ऐसा ही व्यवहार कर रहा है और अभी ऐसे कम्युनिस्ट अध्यापकों को हिन्दी विभाग में नियुक्त किया गया है जो सत्ता के मुखबिर रहे हैं, जो अपने दुर्व्यवहारों के कारण बदनाम हैं तथा जिन पर आर्थिक साधनों के दुरुपयोग के आरोप हैं। यह कम्युनिस्टी न्याय है कि जो कम्युनिस्ट राजनीति के खिलाड़ी और भारतीयता के शत्रु हैं, वे ही प्रोफेसर-रीडर बनने के योग्य हैं।

इन सब घटनाओं के बीच प्रेमचन्द पर मेरा कार्य निरन्तर चलता रहा और आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा उसका किया गया मूल्यांकन भी मुझे तथा हिन्दी-संसार को मिलता रहा। यह मेरा सौभाग्य था कि उन्होंने मेरी अन्य दो पुस्तकों पर भी समीक्षात्मक लेख लिखे, बल्कि यह कहना उचित होगा कि उन्हें अपना आशीर्वाद प्रदान किया। मेरी एक पुस्तक ‘प्रेमचन्द : चित्रात्मक जीवनी’ सन् 1986 में छपी थी और उस पर अपना अभिमत देते हुए शास्त्री जी ने लिखा था, “फिर डॉ. कमल किशोर गोयनका जैसे शोधक तथ्य-संग्रही और प्रेमचन्द के प्रति श्रद्धालु विद्वान की लेखनी से प्रसूत प्रेमचन्द की जीवनी और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि उसकी विश्वसनीयता में रंचमात्र सन्देह नहीं किया जा सकता है। डॉ. गोयनका ‘प्रेमचन्द विश्वकोश’ के प्रथम भाग के रूप में प्रेमचन्द की तारीखबार जीवनी प्रस्तुत करने का भगीरथ प्रयास सफलतापूर्वक सम्पन्न कर चुके थे। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की जीवनी के लेखन का सूत्रपात करने का ऐतिहासिक श्रेय डॉ. कमलकिशोर गोयनका को ही प्राप्त है। डॉ. गोयनका ने अब प्रेमचन्द की संक्षिप्त जीवनी को चित्रात्मक बनाकर प्रस्तुत करने का उपयोगी और स्तुत्य कार्य किया है।” इसी प्रकार सन् 1988 में मेरी पुस्तक ‘प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य’ (दो भाग) जब भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई तो शास्त्री जी ने इस पर अपनी विस्तृत टिप्पणी ‘शोध-साधना की अद्भुत उपलब्धि : प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य’ शीर्षक से प्रकाशित हुई। शास्त्री जी ने अपनी टिप्पणी में लिखा, “ऊँचे लक्ष्य को दृष्टि के सम्मुख रखकर निष्ठापूर्वक की गई शोध-साधना की उपलब्धि कितनी असाधारण एवं अद्भुत हो सकती है, इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा दो खंडों में सम्पादित ‘प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य’। इस ऐतिहासिक महत्व की भेंट के लिए निश्चय ही सम्पूर्ण साहित्य-जगत डॉ. गोयनका का चिर ऋणी रहेगा।” शास्त्री जी ने अपने इस

लेख में एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि उन्होंने मेरे कम्युनिस्ट आलोचकों के आरोपों का सबल तर्कों से उत्तर दिया। शास्त्री जी ने लिखा कि गोयनका ने प्रेमचन्द की मूर्ति का भंजन नहीं किया, बल्कि उनकी वास्तविक मूर्ति को उजागर किया है तथा गोयनका प्रेमचन्द में हिन्दू जीवन-दर्शन का प्रभाव देखते हैं तो क्या गलत करते हैं। प्रेमचन्द पर हिन्दू जीवन-दर्शन का प्रभाव था, यह एकदम सत्य है। शास्त्री जी ने मार्क्सवादियों के उस आरोप का भी उत्तर दिया कि गोयनका प्रेमचन्द की मार्क्सवादी छवि से टकराते हैं तो वे ठीक करते हैं, क्योंकि उनके प्रेमचन्द को मार्क्सवादी बनाने के झूठ का पर्दाफाश करना जरूरी था। शास्त्री जी के इस लेख ने मेरी शक्ति और साहस को बढ़ावा और मुझे लगा कि मार्क्सवादियों के छल-कपट और राजनीतिक स्वार्थों की इस लड़ाई में मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ जब शास्त्री जी जैसे सेनापति हैं तो मुझ सिपाही को निर्भय होकर तथ्यों एवं तर्कों की तलवार से इस मार्क्सवादी साजिश और अज्ञान के रावण को नष्ट करके ही दम लेना होगा।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिमालय प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बने तो मन गर्व से भर गया। शास्त्री जी जैसे सरस्वती-पुरुष, हिन्दू संस्कृति के प्रतीक, सौम्य-शान्त-शालीन् एवं निष्कलुष व्यक्तित्व, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्यावहारिक मूर्ति, सत्ता एवं प्रभुता से निर्लिपि तथा सबके बनकर चलने वाले व्यक्ति का राज्यपाल बनना भारतीय लोकतन्त्र की उच्चता का प्रमाण है। हम सब यह मानते हैं कि राज्यपाल या राष्ट्रपति बनना उनके जीवन का लक्ष्य कभी नहीं रहा, बल्कि आचार्य एवं साहित्यकार के रूप में सरस्वती की साधना में ही वे परमानन्द का अनुभव करते हैं, लेकिन वे दायित्व तथा चुनौतियों से पलायन करने वाले व्यक्ति भी नहीं हैं। उन्होंने राज्यपाल के दायित्व को स्वीकार किया और अपने कार्यों तथा व्यक्तित्व से यह सिद्ध कर दिया कि उन्होंने लोकतान्त्रिक नियमों का पालन किया और राज्यपाल के पद को गरिमा प्रदान की। वे जब लखनऊ में थे तो शास्त्री जी ने मेरे कार्यक्रम की अध्यक्षता की और मैंने उन्हें अपनी कुछ नई पुस्तकें भेट कीं। मैं तब शास्त्री जी से अलग से मिलना चाहता था, परन्तु उनके कार्यालय ने समय नहीं दिया। मैं भी संकोच में था और अग्रिम सूचना नहीं दे पाया था। इसकी जानकारी मैंने उन्हें तब दी जब वे राज्यपाल के पद से मुक्त होकर कोलकाता पहुँचे। शास्त्री जी का 24 अगस्त, 2004 को उत्तर मिला और उन्होंने लिखा, “लखनऊ में आपसे भेट नहीं हो सकी, यह मेरे लिए पीड़ा की बात है। आपने यदि फोन या पत्र लिखकर मिलने का समय निश्चित किया होता तो अवश्य भेट होती। मैं तो प्रतिदिन मित्रों से मिलता ही रहता था और अब आप जब कोलकाता पथरें, आपका स्वागत है।” शास्त्री जी इस शालीनता, विनम्रता और बड़प्पन के सम्मुख केवल नतमस्तक ही हुआ जा सकता है।

मैं जनवरी, 2004 के आरम्भ में अपने अमेरिका-प्रवास के बाद लौटा तो ‘दैनिक जागरण’ में प्रत्येक रविवार को साहित्य पर लेख लिखता रहा। इन लेखों के विषय

साहित्य से सम्बन्धित होते थे और इनमें हिन्दी के मार्क्सवादियों के तरह-तरह के चेहरों से भी नकाब को उठाया जाता था। इन्होंने से कुछ लेख मैंने उन्हें सम्मति के लिए भेजे थे। शास्त्री जी को ये लेख मिले तो उन्होंने अपने 28 अगस्त, 2004 के पत्र में मुझे लिखा, “दिल्ली ‘जागरण’ में प्रकाशित आपके द्वारा प्रेषित आपके आलेख पढ़कर हर्ष से पुलकित हो उठा। आपने इतने अच्छे ढंग से गलत बातों का खंडन और सही बातों का समर्थन किया है कि देखते ही बनता है। आपने साहित्यिक साम्राज्यवादियों और कलियुगी अवतारों को उनकी वास्तविकता का बोध करा दिया है। यह बात अलग है कि कुछ लोग नासमझी को ही समझदारी माने वैठे हैं, उनका आप कुछ नहीं कर सकते। प्रेमचन्द के प्रति आपकी असीम श्रद्धा भी कई आलेखों में प्रकट हुई है। सचमुच ‘रंगभूमि’ को जलाना कदाचार है और उसे ‘बीजेपी की साजिश’ बताना नैतिक भ्रष्टाचार है।” इसी प्रकार छोटी खादू हिन्दी पुस्तकालय, छोटी खादू (नागौर, राजस्थान) ने 30 अक्टूबर, 2004 को मुझे ‘दीनदयाल उपाध्याय साहित्य पुरस्कार’ दिया तो शास्त्री जी ने अपने 19 अक्टूबर एवं 9 नवम्बर, 2004 के पत्रों में लिखा, “आदरणीय जुगल जी से यह जानकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि ‘छोटी खादू पुस्तकालय दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान’ से विभूषित कर रहा है। आपके कार्य सचमुच सरस्वती के भंडार को समृद्ध करने वाले हैं। प्रेमचन्द पर जितना विशद एवं मौलिक कार्य आपने किया है, उतना किसी और ने नहीं किया है। सच तो यह है कि सम्मानकर्ता पिछड़ गए। आपको काफी पहले यह सम्मान प्राप्त होना चाहिए था।”

मैंने आरम्भ में कहा था कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व गंगा की तरह निर्मल, पावन और संस्कृतिमय है और है हिमालय की ध्वलता, शीतलता, भव्यता और परहितता तथा सागर की अनन्त विचार-तरंगें, अथाहता और गम्भीरता। हिन्दू संस्कृति की एक अजस्र धारा उनके मानस में प्रवाहित रहती है। वे भारत के ऐसे सरस्वती पुत्र और संस्कृति-पुरुष हैं जो इधर दुर्लभ हैं। मुझे वे यदि गुरु रूप में मिले होते और मुझे उनका शिष्य होने का सौभाग्य मिलता तो निश्चय ही मैं इतना खोटा सोना नहीं होता, लेकिन ईश्वर की कृपा से मुझे उन जैसे सन्त का जो भी संसर्ग मिला, उससे मुझे अपने मार्ग पर चलने का बल और विश्वास मिला। मेरे प्रायः प्रत्येक कार्य पर उनकी दृष्टि रही और उचित कार्यों पर वे पीठ थपथपाते रहे। मेरे जीवन में शास्त्री जी का जो स्थान है, उसका वर्णन असम्भव ही है। बस अन्त में मैं यही कह सकता हूँ कि यदि मुझे उनका वरदूहस्त न मिला होता तो सम्भवतः मैं मार्क्सवादियों के आरोपों और आक्रमणों के सम्मुख भाग खड़ा होता। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी मेरे प्रकाश-स्तम्भ ही नहीं शक्ति स्तम्भ भी हैं और मैं इसी प्रकाश तथा शक्ति स्रोत के साथ शेष जीवन जीना चाहता हूँ। प्रभु करें, ऐसा ही हो।

‘विमर्श अवधारणा, स्वरूप और प्रकार

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे*

अवधारणा और स्वरूप : विमर्श शब्द की अवधारणा जानने हेतु उसके कोशगत अर्थ को पहले जान लेंगे। ‘हिन्दी शब्द कोश’ (रामचन्द्र वर्मा) में विमर्श के कुल छह अर्थ दिए गए हैं—1. मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति, 2. विचार या विवेचन, 3. आलोचना, 4. परीक्षा, 5. परामर्श, 6. नाटक की पाँच सन्धियों में से एक, जिसमें बीज का अधिक विकास होता है, परन्तु फल-प्राप्ति से पहले शाप आदि के रूप में विघ्न आने लगते हैं। उपर्युक्त छह अर्थों में से अन्तिम अर्थ नाटक की कथावस्तु की समीक्षा से सम्बन्धित है, इसलिए वह हमारे विवेचन की दृष्टि से काम का नहीं है। अन्य पाँच अर्थों का सम्बन्ध विमर्श की अवधारणा से है। इसमें भी पहला अर्थ विमर्श शब्द की नींव ही है। चौथा अर्थ ‘परीक्षा भी’ हमारे विवेचन की दृष्टि से बहुत काम का नहीं है। तो कुल चार अर्थ शेष रह जाते हैं—1. मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति, 2. विचार या विवेचन, 3. आलोचना, 4. परामर्श।

इन चार अर्थों के विवेचन से विमर्श शब्द की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो सकती है। जो पहला अर्थ है, उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर हमें उसे स्वीकारना होगा। मन में होने वाली अहंभाव की स्फूर्ति इस अर्थ में जो अहं शब्द है उसका अर्थ अहंकार न लेते हुए, खुद के प्रति मनुष्य होने का अहसास इस अर्थ में लें तो अस्मिता की अवधारणा स्पष्ट हो सकती है। अहं के दो अर्थ शब्दकोश में मिलते हैं—अहंकार और अभिमान। पहले अर्थ में जो अहं शब्द है उसका अर्थ हमें अभिमान इस अर्थ में लेना है। खुद के प्रति अभिमान! मैं भी मनुष्य हूँ का अभिमान। अपने प्रति अभिमान का सम्बन्ध व्यक्ति की अस्मिता के साथ आता है। इस प्रकार विमर्श का संबंध अस्मिता के साथ जुड़ जाता है। व्यक्ति की अस्मिता का सम्बन्ध सामुदायिक अस्मिता के साथ जुड़ा रहता है। सामुदायिक अस्मिता से जोड़कर ही इस प्रश्न की चर्चा की

* डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ‘निकष’, 19 अजिंक्यसिटी, आम्बाजोगाई रोड, लातूर-413512; मो. 09423735393

जानी चाहिए, की भी जाती है। इस दृष्टि से विमर्श में अस्मिता का विचार या विवेचन होता है, सामुदायिक अस्मिता से सम्बन्धित प्रश्नों की, समस्याओं की, परम्पराओं की यहाँ आलोचना होती है, इन सब का परामर्श यहाँ लिया जाता है।

तो कुल मिलाकर विमर्श शब्द का अर्थ होता है कि व्यक्ति के बहाने सामुदायिक अस्मिता का विवेचन, विचार, समीक्षा या आलोचना। विश्व के अनेक देशों में उस देश के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित शोषित, गुलाम तबकों पर कभी गम्भीरता से विवेचन ही नहीं हुआ। यह वर्ग हमेशा दोयम रूप में अथवा तथाकथित प्रस्थापित वर्ग की दया पर ही जीता रहा। बीसवीं सदी में जब शिक्षा के दरवाजे सभी के लिए खोल दिए गए, जब व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर सबको उपलब्ध कराए गए, तब इस वर्ग के भीतर अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर अनेक प्रश्न उठने लगे। यह वर्ग अपने खोए हुए मानवाधिकारों की माँग करने लगा। परिणामतः इस वर्ग की दशा पर प्रस्थापित और उपेक्षित दोनों वर्गों में जो बहस शुरू हुई उसी को 'विमर्श' कहा जाता है। ध्यान रखें कि विमर्श का अस्मिता के साथ, मानवाधिकारों के साथ गहरा सम्बन्ध है। अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के प्रति अभिमान रखते हुए जब स्त्री इस पुरुष प्रधान व्यवस्था में अपना अवकाश (स्पेस) ढूँढ़ने लगती है, तब नए विमर्श की शुरुआत हो जाती है। इस दृष्टि से विमर्श का सम्बन्ध अपनी पहचान के साथ भी है। अपनी अस्मिता की तलाश के साथ भी है। केवल व्यक्तिगत रूप में अपनी पहचान नहीं अपितु अपने जैसे सम्पूर्ण समूह की पहचान या समूह की अस्मिता से सम्बन्धित यह प्रश्न है।

वास्तव में भारत में विमर्श शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के डिस्कोर्स इस शब्द के लिए किया गया है। क्योंकि यूरोप में भी वहाँ अब तक नकारे गए तथा पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित वर्ग को लेकर जोरों से बहस शुरू हुई थी। इस बहस के लिए वहाँ डिस्कोर्स शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी डिस्कोर्स शब्द के लिए हिन्दी में विमर्श शब्द का प्रचलन हुआ। आज हिन्दी और मराठी समीक्षा में इस प्रकार की बहस के लिए विमर्श शब्द का ही प्रचलन हो चुका है।

ऑक्सफोर्ड के शब्दकोश में डिस्कोर्स का अर्थ दिया गया है—सम्भाषण, प्रवचन, व्याख्यान तथा किसी विषय पर महत्वपूर्ण तथा गम्भीर स्वरूप का विवेचन या भाषण। विमर्श के जो छह विभिन्न अर्थ हिन्दी में हैं, उतने विभिन्न अर्थ अँग्रेजी शब्द डिस्कोर्स के नहीं हैं। यहाँ दिए गए अर्थ में सम्भाषण तथा किसी महत्वपूर्ण विषय पर गम्भीर स्वरूप का विवेचन या भाषण ये दो ही अर्थ हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। डिस्कोर्स में इस बात पर महत्व दिया जाता है कि किसी एक विषय पर जहाँ गम्भीर ऐसी चर्चा चलती रहती है, उसे विमर्श या डिस्कोर्स कहा जाए। शब्दकोशों में जो अर्थ दिए गए हैं, उनका अर्थविस्तार कालान्तर में होता रहता है। इस शब्द को लेकर भी यही हुआ। किसी विषय पर जब अनेक अध्येता अपने-अपने विचार व्यक्त करने लगते हैं, तो उसे

‘विमर्श’ कहा जाने लगा है। इस पूरे विमर्श में अनेकों के सहभाग की जरूरत होती है। आज विमर्श का सम्बन्ध गहरे रूप से व्यक्ति की, समूह की अस्मिता के साथ जोड़ा गया है। ठीक इसी प्रकार विमर्श का सम्बन्ध दबे कुचले, शोषित, श्रमिक स्त्री-पुरुषों के साथ भी जुड़ गया है। वास्तव में यह अर्थ संकोच ही है। क्योंकि विमर्श तो विश्व में फैले किसी भी विषय को लेकर शुरू हो सकता है। परन्तु आज विमर्श का सम्बन्ध परम्परा द्वारा नकारे गए वर्ग के साथ जुड़ गया है। इस सम्पूर्ण विवेचन से विमर्श की अवधारणा इन लक्षणों के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है—

1. विमर्श में किसी एक विचार पर गम्भीरता से चर्चा होती है। 2. विमर्श में सम्बन्धित विचार या विषय के विविध आयामों पर विवेचन होता है। 3. उस विषय या विचार की आलोचना भी हो सकती है। 4. विमर्श की शुरुआत व्यक्ति के मानवाधिकार की माँग से होती है और 5. विमर्श का सम्बन्ध सामुदायिक अस्मिता के साथ होता है।

प्रकार : हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में सोचा जाए तो साधारणतया 1970 से यहाँ दलित और स्त्री-विमर्श की शुरुआत हो जाती है, और भारत के सन्दर्भ में सोचा जाए तो महाराष्ट्र तथा दक्षिण के प्रदेशों में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में ही दलित और स्त्री की अस्मिता को लेकर गम्भीर बहस शुरू हो चुकी थी। महात्मा जोतिबा फुले पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने इस सम्बन्ध में पहली बार इन दो वर्गों की अस्मिता को लेकर कई प्रश्न उठाए। बीसवीं सदी में डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर जी इस बहस को आगे बढ़ाते हैं। यह दूसरी बात है कि उस काल में इसे विमर्श नहीं कहा जाता था। वास्तव में यह था तो विमर्श ही। फुले और अम्बेडकर के इस विवेचन की नींव पर 1960 के बाद मराठी में दलित-विमर्श तथा स्त्री-विमर्श की शुरुआत हो जाती है। जैसा कि प्रस्तावना में कहा गया कि वास्तव में विमर्श का प्रश्न व्यक्ति की अस्मिता के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है। हिन्दी में प्रसिद्ध आलोचक श्री जगदीश्वर चतुर्वेदी अपने एक लेख ‘नामवर सिंह और अस्मिता-विमर्श’ (वाक् त्रैमासिक, पृ. 66) में आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हैं कि “आधुनिक काल के इतिहास का आरम्भ ही अस्मिता की राजनीति से होता है। यह निजी अस्मिता नहीं है, सामुदायिक अस्मिता है।”

अस्मिता का यह प्रश्न इस देश में मुख्यतः दलित और स्त्री के साथ जुड़ा हुआ है। क्योंकि यहाँ की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना में इन दोनों को न कोई स्थान था और न किसी प्रकार की भूमिका। दलित सामाजिक बन्धनों में जकड़ा हुआ था तो स्त्री घर के भीतर गुलाम की तरह बन्द थी। स्वतन्त्रता के बाद, संवैधानिक व्यवस्था के कारण, समतावादी समाज-व्यवस्था के लक्ष्य को सामने रखने के कारण इस देश के सभी वर्गों, वर्णों, जातियों और स्त्रियों को व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर उपलब्ध कराए जाने लगे। परिणामतः शिक्षा के दरवाजे सभी के लिए खुल गए। शिक्षा का सबसे बड़ा प्रभाव व्यक्ति की सोच पर होने लगता है। इस शिक्षा

का ही परिणाम हुआ कि दलित और स्त्री को अपनी अस्मिता का अहसास होने लगा, अपने खोए हुए अथवा छिन लिये गए मानवाधिकार की माँग वे करने लगे। भूतकाल में अपनी स्थिति को जान लेने के लिए उन्होंने भूतकाल का उत्खनन शुरू किया, पुरुष सत्ताक तथा वर्ग-जाति व्यवस्था प्रधान समाज संरचना को वे कई प्रश्न पूछने लगे। प्रस्थापित व्यवस्था को बदल देने के लिए, इस व्यवस्था में अपने लिए जगह माँगने के लिए उन्होंने अपने अब तक के जीवन की, इतिहास की, परम्परा की, धर्म की, जो विवेचना की ओर इसके आधार पर उन पर हो चुके या होने वाले अन्यायों का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया, वही विमर्श नाम से पहचाना जाने लगा। अर्थात् विमर्श का यह आरम्भिक दौर था। भविष्य में जो-जो भी वर्ग अपनी अस्मिता को लेकर तथा व्यवस्था में अपने स्थान को लेकर सामने आएगा और उसे प्रमाणों द्वारा सिद्ध करेगा, वह सब विमर्श के अन्तर्गत ही आ जाएगा। इस कारण विमर्श के इतने ही निश्चित प्रकार हैं, ऐसा कहा नहीं जा सकता।

इस वक्त हिन्दी में मुख्यतः दलित और स्त्री-विमर्श की चर्चा ही अधिक है। इसके अलावा इस देश में जो अन्य धर्मिय हैं, उनमें भी एक अभिजनों का वर्ग है और एक बहुजनों का। बहुजनों का यह वर्ग अब तक उपेक्षित था, शोषित था। शिक्षा की सुविधा के कारण वह भी सक्रिय हो उठा है। भारतीय मुसलमानों में अब तक जो पूर्णरूप से पिछड़ा और शोषित मुसलमानों का वर्ग है, वह संगठित हो रहा है। महाराष्ट्र में यह तबका मुस्लिम ओबीसी के रूप में सामने आ रहा है तो हिन्दी प्रदेश में पसमान्दा वर्ग के रूप में संगठित हो रहा है। इन सबकी समस्याओं पर बहस जारी है। इसे भी विमर्श के अन्तर्गत ले सकते हैं।

'विमर्श' की परम्परा : विश्वप्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा नोबल पुरस्कार प्राप्त अध्येता डॉ. अमर्त्य सेन ने अपनी एक पुस्तक में यह प्रमाणित किया है विश्व के अनेक देशों की तुलना में, भारत में एक-दूसरे के साथ निरन्तर संवाद की लम्बी परम्परा रही है। बौद्धकाल में बौद्धसंघों में सभी अध्येता एक स्थान पर इकट्ठे होकर किसी एक विषय पर गम्भीर चर्चा करते थे। उनके इन विषयों में विविधता थी। इसके अलावा भारत में शास्त्रार्थ की एक लम्बी परम्परा मिलती है।

शास्त्रार्थ वास्तव में विमर्श का ही दूसरा नाम है। यह दूसरी बात है कि इनके शास्त्रार्थ के विषय अध्यात्म से सम्बन्धित होते थे। उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष-भौतिक जगत से बहुत कम होता था। दूसरी ओर चार्वाकों और बौद्धों में शास्त्रार्थों की परम्परा भी थी जिनके विषय भौतिक जीवन से सम्बन्धित होते थे। इसापूर्व शती में, इन शास्त्रार्थों में सभी वर्गों, जातियों तथा स्त्रियों का भी सहभाग होता था। जैसे-जैसे यहाँ पुरुष सत्ताक व्यवस्था तथा वर्ग और जातिवादी व्यवस्था दृढ़ होती गई, स्त्रियों को और पंचमूर्धियों को इससे अलग रखा जाने लगा। बाद में तो यह शास्त्रार्थ या विमर्श केवल दो वर्णों के पुरुषों तक ही सीमित रहा।

और ऐसे यह शास्त्रार्थ की परम्परा एक सीमित वर्ग में और वह भी आध्यात्मिक विषयों तक सीमित हो गई। इसापूर्व पाँचवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक अर्थात् करीब 1700 वर्षों तक यहाँ स्त्री और अन्य तीन वर्णों के स्त्री-पुरुष इस विमर्श से बहिष्कृत ही थे। मध्यकाल में सन्तों ने फिर से सबको सामिल कर विभिन्न प्रश्नों पर बहस शुरू कर दी थी—ऐसे प्रमाण भवित साहित्य के निर्गुण सम्प्रदाय में और उसके भी पूर्व सिद्ध नाथ सम्प्रदाय में मिलते हैं। यहाँ भी कुछ अपवाद छोड़ दें तो स्त्री बहिष्कृत ही थी। इस संक्षिप्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यहाँ विमर्श की परम्परा बड़ी लम्बी, प्रदीर्घ ऐसी रही है। आरम्भ में यह विमर्श समाज के सभी बुद्धिजीवियों तक व्यापक था। बाद में यह सीमित-सा होने लगता है। स्त्री और दलित अर्थात् समाज के बहुजन को इन विमर्शों से दूर ही रखा गया था। यह स्थिति उन्नीसवीं सदी तक रही। अँग्रेजों के आने के बाद, यहाँ जिस यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का आरम्भ हुआ, उससे तत्कालीन अभिजन प्रभावित हुए। उन्होंने यह आधुनिक शिक्षा ग्रहण की। परिणामस्वरूप तत्कालीन भारतीय समाज संरचना पर, उसमें स्त्री और दलित की स्थिति को लेकर उनमें गम्भीर ऐसा विमर्श शुरू हुआ। नवजागरण काल में दलित और स्त्री को लेकर उनकी अवस्था और मानवाधिकारों को लेकर विमर्श तो हो रहा था, परन्तु इस विमर्श में न स्त्री थी और न दलित। यह सम्पूर्ण विमर्श अभिजनों तक, सर्वर्णों तक सीमित था। यहाँ सारी चर्चा यथार्थ कम और आदर्शवादी अधिक थी। इसी आधुनिक काल में आर्यसमाज ने इस विमर्श को और अधिक व्यापक पैमाना दिया। आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन में अनेक शास्त्रार्थ किए। ये शास्त्रार्थ मुख्य रूप से जन्माधिष्ठित वर्णव्यवस्था, मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्डों को लेकर थे। उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर भी बहस की। एक सीमा में ही क्यों न हो वे स्त्री-शिक्षा के, विधवा-विवाह के समर्थक थे। जातिव्यवस्था के जबरदस्त विरोधी थे। इसी काल के महात्मा जोतिबा फुले ने भी महाराष्ट्र में दलित तथा स्त्री प्रश्नों को लेकर विमर्श शुरू किया। उन्होंने दलित के स्थान पर बहुजन शब्द का प्रयोग किया है। वे इन दोनों की अस्मिता का प्रश्न लगातार उठा रहे थे। इस अर्थ में महात्मा जोतिबा फुले महर्षि दयानन्द सरस्वती से चार कदम आगे थे। क्योंकि उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को पूर्णरूप से नकारा। स्त्री की स्वतन्त्रता का, उसकी अस्मिता का सम्मान किया। आज के दलित और स्त्री-विमर्श की नींव में महात्मा जोतिबा फुले और डॉ. बाबा साहब अच्छेड़कर के विचार हैं—इसे हम न भूलें।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में विमर्श : राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद डॉ. बाबा साहब अच्छेड़कर द्वारा जिस संविधान का निर्माण किया गया, उसके कारण इस देश के सभी तबकों को शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं। संविधान सभा में दीर्घकाल तक जो बहसें हुई, वह वास्तव में इस देश के भविष्य को लेकर किया गया विमर्श ही था। संविधान सभा ने इसे स्वीकारा कि इस देश की समाज-व्यवस्था श्रेणीबद्ध थी और है,

विषमता से ग्रसित थी और है इसी कारण ऐसी जटिल श्रेणीबद्ध समाज-व्यवस्था के स्थान पर समतावादी समाज रचना का निर्माण ही इस देश का लक्ष्य रहेगा, उसी दृष्टि से संविधान की अनेक धाराएँ लिखी गईं। यहाँ के नकारे गए, श्रमिक, शोषित, दलित, आदिवासी वर्ग को शिक्षा हेतु अनेक सुविधाएँ प्रदान करना तथा दलित, आदिवासी और स्त्री शिक्षित होने के बाद उन्हें नौकरियों में आरक्षण देकर आर्थिक दृष्टि से उन्हें स्वावलम्बी बनाने का भी लक्ष्य रखा गया। प्रत्येक राज्य सरकार का यह दायित्व माना गया कि वे अपने राज्य के दलित, आदिवासी और स्त्रियों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ बनाएँ तथा उन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित करें। बहुत धीमी गति से क्यों न हो यह प्रक्रिया यहाँ शुरू हो जाती है। 1950 में संविधान लागू हो जाता है। 1952 में पहला चुनाव होता है। स्वतन्त्र भारत की पहली सरकार बन जाती है। संविधान की धाराओं के तहत् शिक्षा-क्षेत्र में दलित और स्त्री को स्थान आरक्षित किए जाते हैं। 1952-55 के समय जिन दलितों और स्त्रियों ने शिक्षा लेना शुरू किया था वे 1960-70 के करीब उपाधि लेकर विश्वविद्यालय के बाहर प्रत्यक्ष जीवन-संघर्ष में प्रवेश करते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट करना जरुरी है कि स्वतन्त्रता-पूर्व काल में 1857 के बाद यहाँ सीमित मात्रा में क्यों न हो शिक्षा की व्यवस्था थी। परन्तु उस काल में यह शिक्षा केवल दो वर्णों तक ही सीमित थी। महात्मा जोतिबा फुले, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर और आर्य समाज के कारण बहुजनों ने शिक्षा लेना शुरू किया था। परन्तु तब दलित और स्त्री-विमर्श की शुरुआत नहीं हुई थी। क्योंकि ये शिक्षित या तो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न घरों से आए थे। उनकी सारी चिन्ताएँ और उनके विमर्श सामुदायिक विमर्श का हिस्सा नहीं बन सके यह यथार्थ स्थिति है।

विमर्श के आरम्भिक दौर में इस वर्ग की जो अभिव्यक्ति हुई, उसमें आक्रामकता रही है, कुछ सीमा तक वह आज भी है। वेदना और विद्रोह विमर्श के स्थायी भाव होते हैं। ये भाव तब तक व्यक्त होते रहेंगे, जब तक इस वर्ग के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाएगा। अर्थात् इस प्रकार का व्यवहार दोनों ओर से अपेक्षित है। अगर हम दलित और स्त्री-विमर्श की अब तक की यात्रा को समझने का प्रयत्न करेंगे तो उसमें मुख्य रूप से तीन प्रकार के स्वर क्रमशः मिलते रहेंगे। अभिव्यक्ति और आचरण के स्तर पर इन स्वरों में थोड़ी-सी भिन्नता भी दिखलाई देंगी। अभिव्यक्ति स्तर पर आरम्भ में परम्परा के प्रति भयंकर आक्रोश था, चिढ़ थी, तिरस्कार था। जिस व्यवस्था ने उनको इस स्तर तक पहुँचाया, जिस व्यवस्था ने उनके मानवाधिकारों को छीन लिया, जिस व्यवस्था ने उन्हें पूर्णतः गुलाम बनाया, उसके प्रति चिढ़ होना स्वाभाविक स्थिति है। इसमें सक्रिय संवेदनशील स्त्री-पुरुष इतिहास और परम्परा का उत्खनन करते हैं। परम्परा ने, इतिहास ने, धर्म ने उन्हें क्या दिया, इसकी खोज वे करते हैं, भूतकाल में हमें कहीं स्थान दिया गया था क्या इसकी छानबीन भी वे करते हैं। वास्तव में इस प्रकार के विमर्श में अतीत का अनुसन्धान ही किया जाता है। महात्मा फुले ने यह किया, डॉ.

बाबा साहब अम्बेडकर ने यह किया। अतीत में उनके साथ जो भी घटित हुआ, उसके आधार पर वे उस अतीत को ही नकारते हैं, भले ही वह अतीत दलितेतरों और पुरुषों के लिए स्वर्णयुग रहा हो। विमर्श के दूसरे दौर में वे अपने वर्तमान की ओर तटस्थता से देखते हैं। उनके साथ आज भी जो व्यवहार, आचरण किया जा रहा है, उसको पूरी तटस्थता से देखने का उनका प्रयत्न होता है। सारी सवैधानिक सुरक्षितता के बावजूद आज भी देश में, देहातों में जो घटनाएँ उनके साथ घटित हो रही हैं, उसका विवेचन और विश्लेषण वे करते हैं तथा उसके आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज भी सर्वों और पुरुषों की मानसिकता में बहुत गुणात्मक अन्तर नहीं हुआ है। पहला स्वर-अधिक तीखा और आक्रामक है तो दूसरा स्वर एक तटस्थ ऐसे व्यक्ति का है। देखिए, ऐसा आज भी घटित हो रहा है, आपकी क्या प्रतिक्रिया है?. क्या यह सब औचित्यपूर्ण है? यह दूसरा स्वर सर्वों और पुरुषों को आत्मपरीक्षण के लिए ललकारता है। विमर्श का जो तीसरा स्वर है, जो अभी बहुत धीमा है, वह खुद के आत्म-परीक्षण का है। अपने अन्तर्विरोधों को, विसंगतियों को पहचानने का यह प्रामाणिक प्रयत्न है। ठीक है, व्यवस्था तो अमानवीय है, उसने दलित और स्त्री के मानवाधिकारों को छिन लिया था। स्वतन्त्रता के बाद इन दो वर्गों को जो सुविधाएँ मिलीं, उससे इन वर्गों की मानसिकता में कहाँ तक बुनियादी परिवर्तन हुआ, ऐसा यह प्रश्न है। मुक्तिबोध के शब्दों में खुद को तलाशने और तराशने का यह प्रयत्न है। हम कहाँ थे, कहाँ आ गए हैं, कहाँ पहुँचना है ये इस विमर्श के तीन बुनियादी प्रश्न हैं। हम कहाँ थे इसकी खोज हुई है, अभी भी हो रही है, होनी भी चाहिए, इसी खोज में आक्रोश रहा है, विद्रोह रहा है, वेदना भी रही है। कहाँ हैं—की खोज धीमी गति से जारी है। यह आत्मपरीक्षण की स्थिति है। इस पूरी प्रक्रिया में दलित सनातनी सर्वर्ण बने वह केवल मनुष्य बने इसका आग्रह है। इसी खोज के परिणामस्वरूप डॉ. शरणकुमार लिंबाले जी ने दलित ब्राह्मण शब्द का ईजाद किया। स्त्री-विमर्श में यह प्रश्न भी उठाया जा रहा है कि पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध करते-करते स्त्री पुरुष न बन जाए। मतलब फिर से मातृसत्तात्मक व्यवस्था लाने का आग्रह न हो। न पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था हो न मातृसत्तात्मक, न वर्ण-व्यवस्था हो और न वर्ण-व्यवस्था का उल्टा रूप—मतलब दलित शीर्षस्थान पर और ब्राह्मण निम्न स्थान पर वास्तव में हम सबको विशुद्ध मानवतावादी-समतावादी व्यवस्था तक पहुँचना है। वही हमारा लक्ष्य है। इन सारे विमर्शों का गन्तव्य स्थान विशुद्ध मानवता का, समतावादी व्यवस्था का है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक मिशेल फूको ने एक स्थान पर लिखा है कि कोई भी चीज तब तक समस्या नहीं बनती या समस्या का रूप ग्रहण नहीं करती, जब तक वह विमर्श में प्रवेश न कर ले। (सन्दर्भ वाक् त्रैमासिक अंक 12, पृ. 28) फूको ने इस छोटे-से वाक्य में यह संकेत दिया है कि विमर्शों का जन्म कैसे और कब होता है। समस्या के जन्म के लिए सबसे पहली जरूरत यह होती है कि उस

समस्या पर लगातार बहस हो। समाज के बुद्धिजीवी तबके से लेकर सामान्य लोगों में जब तक उस पर निरन्तर बहस नहीं होती, तब तक उसे तत्कालीन व्यवस्था या शासन समस्या के रूप में ग्रहण नहीं करती।

उसे समस्या के रूप में प्रस्तुत करने का काम तत्कालीन व्यवस्था की विसंगतियों को जो पहचान पाते हैं, उन्हें ही यह सम्भव होता है। जो व्यवस्था का उदात्तीकरण करते हुए जीते हैं अथवा जो व्यवस्था की अमानवीयता को पहचान नहीं पाते अथवा जिनके हितसम्बन्ध उस व्यवस्था में सुरक्षित होते हैं, वे कभी भी इसे समस्या के रूप में पहचान नहीं पाते। वह समस्या न बने इसलिए वे उस पर विमर्श करना भी टालने लगते हैं। दूसरी ओर से सोचें तो जिनकी यह समस्या होती है, वे अगर संवेदनशून्य हों अथवा व्यवस्था उन्हें संवेदनशून्य कर चुकी हो तो वे भी इस पर कभी न सोचेंगे और न बहस करेंगे। विमर्श तो तभी होगा न जब उसे यह तीव्रता से अहसास हो कि इस व्यवस्था ने मेरे मानवाधिकारों को छिन लिया है। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने यही तो कहा कि गुलाम को गुलामी का अहसास करा दो कि फिर आगे की प्रक्रिया गुलामी से मुक्त होने की शुरू हो जाएगी। भारत के सन्दर्भ में सोचें तो यह स्पष्ट होगा कि यहाँ के भाग्यवादी तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने दलित और स्त्री के सोचने की ऊर्जा को ही खत्म कर दिया था। हमारी यह नियति है, हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा हुआ है, इस जन्म में अपने कर्तव्य ईमानदारी से (पति सेवा तथा अन्य वर्णियों की सेवा) निःवार्थ भाव से करने के बाद अगले जन्म में इस गुलामी से मुक्ति मिलेगी, स्वर्ग मिलेगा, ऐसी सोच लिये पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित और स्त्री जी रहे थे। हमारी इस गुलामी के मूल में यहाँ की व्यवस्था है, पुरुषसत्ताक और वर्णवादी समाज-व्यवस्था है, इसका अहसास ही नहीं करा दिया गया था। परिणामतः यह समस्या है ऐसा न बुद्धिजीवियों को लगा और न श्रूखलाओं में कैद दलित या स्त्री को नवजागरण काल में जब राजा राममोहन राय को स्त्री पर होने वाले इन अन्यायों का अहसास हुआ, जब उन्हें लगा कि इनके मानवाधिकार छिन लिये गए हैं, तब उन्होंने कोलकाता के भद्र समाज में इस पर बहस शुरू की। ब्रह्म समाज में ऐसे विषयों पर लगातार बहसें हो रही थीं। इस पर तत्कालीन पत्रिकाओं में लिखा जा रहा था, इन बहसों या विमर्शों के कारण ही आगे चलकर इसे हिन्दू समाज की एक समस्या के रूप में देखा जाने लगा। तत्कालीन साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति भी हुई। यह दूसरी बात है कि उस बक्त न विमर्श शब्द का प्रयोग हुआ और न डिस्कोर्स का। अलबत्ता शास्त्रार्थ शब्द का प्रयोग लगातार होता रहा। महात्मा जोतिबा फुले तत्कालीन समाज-व्यवस्था में लगातार बहुजनों की अस्मिता को लेकर, उनकी शिक्षा को लेकर, उनकी दुर्दशा को लेकर व्याख्यान दे रहे थे, पण्डितों से बहस कर रहे थे, पत्रिकाओं में लेख लिख रहे थे। इसी कारण वे इसे तत्कालीन अँग्रेजी सत्ता के सम्मुख बहुजनों की शिक्षा की समस्या रख सके। ठीक यही स्थिति डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर की है। दलितों की समस्या को समस्या रूप में डॉ.

बाबा साहब तभी रखते हैं, जब उन्होंने हिन्दू समाज की संरचना का गम्भीर अध्ययन किया था। अमेरिका के कोलम्बो विश्वविद्यालय में बैठकर वे जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित नई स्थापनाएँ प्रस्तुत कर रहे थे। वे इस विषय पर लगातार बहस कर रहे थे, लिख रहे थे। महात्मा गांधी से लेकर तत्कालीन धर्मप्रमुखों से भी वे आज की भाषा में विमर्श कर रहे थे। इसी कारण तो इसे एक गम्भीर समस्या के रूप में अँग्रेजी सत्ता को तथा बाद में गांधी को स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार प्रत्येक परिवर्तनवादी आन्दोलन के मूल में सम्बन्धित विषय पर विमर्श की जरूरत होती है। विमर्श परिवर्तन की प्रक्रिया की नींव में होता है। किसी एक के कहने से परिवर्तन की प्रक्रिया का आरम्भ नहीं होता। अपितु उस बात पर, उस माँग पर अधिकारों पर लम्बी बहसें होना जरूरी हो जाता है। ऐसी बहसों के बाद वह समस्या का रूप धारण कर लेता है। उस समस्या से पीड़ित लोग संगठित होने लगते हैं। क्योंकि ऐसे विमर्श के कारण ही उन्हें इस बात का अहसास होता है कि उनकी असली समस्या क्या है और उससे निकलने का मार्ग कहाँ है, तभी वे सब परिवर्तन के लिए संगठित होने लगते हैं।

साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की भूमिका इस पूरी प्रक्रिया में महत्वपूर्ण होती है। जब समाज के किसी एक तबके की यथार्थ समस्या सामने आने लगती है, तब उस समस्या के सभी पहनुओं पर विमर्श कर उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करने की जिम्मेदारी साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों पर होती है। फुले के शब्दों में कहना हो तो वह उस विषय पर विमर्श द्वारा उसे समस्या के रूप में प्रस्तुत करने लगता है, तब तत्कालीन समाज को, सत्ता को, व्यवस्था को उस समस्या की ओर ध्यान देना ही पड़ता है। इसी प्रक्रिया के तहत् साहित्य में नए विमर्शों का उदय होता है। हिन्दी साहित्य में दलित और स्त्री-विमर्श का उदय कब हुआ, इसका इतिहास देखना भी जरूरी है। यूँ तो, छिवेदी काल से दलित और स्त्री जीवन पर चर्चा हो रही थी। परन्तु इस चर्चा ने कभी विमर्श का रूप धारण नहीं किया।

गांधी युग में भी दलित और स्त्री जीवन पर बातें हो रही थीं। उस चर्चा में या इनकी ओर देखने की दृष्टि में या तो दयाभाव या अथवा अति आदर्शवादी भाव। मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में, खंड काव्यों में स्त्रियों से सम्बन्धित जो दृष्टिकोण है, वह अतिआदर्शवादी, वायवी है। स्त्री या दलित की दशा की ओर समस्या के रूप में देखा नहीं जाता था। सामन्ती मानसिकता ही वहाँ काम कर रही थी। वास्तव में उस काल में दलित और स्त्री व्यवस्था के सम्मुख समस्या के रूप में खड़े ही नहीं थे। दूसरी सच्चाई यह है कि स्त्री और दलित स्वयं कहाँ मुखर थे? कोई दूसरे ही इनके बारे में बोल रहे थे। उनकी इस स्थिति को लेकर विमर्श ही शुरू नहीं हुआ था। वास्तव में दलित और स्त्री इन दोनों की स्थिति पर डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ही विमर्श शुरू कर देते हैं। 1920 से 1956 तक वे लगातार इन दो प्रश्नों पर बोल रहे थे, लिख रहे थे परिणामस्वरूप तत्कालीन बुद्धिजीवियों को भी इन प्रश्नों की दखल लेनी पड़ी।

अलबत्ता सुश्री महादेवी वर्मा ने ‘शृंखला की कड़ियाँ’ में 1942 में स्त्री-विमर्श की शुरुआत की थी। यह विमर्श केवल उन तक सीमित था। तत्कालीन तथाकथित हिन्दी भाषी बुद्धिजीवी महिलाओं ने इस विमर्श की गम्भीरता से नोटिस नहीं ली है। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के कारण महाराष्ट्र में दलित-विमर्श की शुरुआत हो जाती है। उधर तमिलनाडु में रामस्वामी नायकर पेरियार ने दक्षिण में दलित-विमर्श की शुरुआत की थी। हिन्दी प्रवेश में अछूतानन्द यही काम कर रहे थे। परन्तु तत्कालीन सर्वर्णों ने उनके इस विमर्श को गम्भीरता से नहीं लिया। दलित और स्त्री दोनों के प्रश्न मनुष्य के बुनियादी मानवाधिकारों से जुड़े हुए हैं। इस कारण संवेदनशील साहित्यकारों के ये सोच के विषय होने चाहिए। परन्तु इस देश के सभी बुद्धिजीवियों की दृष्टि से दलित और स्त्री-विमर्श के विषय थे ही नहीं। जब इन दोनों की व्यवस्थाएँ, यातनाएँ, इनका विद्रोह, इनकी वेदना सर्जनात्मक साहित्य में प्रगट होने लगी, हिन्दी के बुद्धिजीवियों का ध्यान इनकी ओर चला जाता और ये विमर्श के केन्द्र में आ जाते हैं। या यह कहिए कि मजबूरी से क्यों न हो उन्हें इसे विमर्श के केन्द्र में लाना पड़ा। यह स्पष्ट है कि साहित्य में नए विमर्शों का आगमन तभी हो जाता है जब समाज में उस विषय को लेकर सजगता बढ़ती है, उस समस्या से पीड़ित लोग जब संगठित होकर अपने मानवाधिकारों की माँग करने लगते हैं। जब वे अपनी अनुभूतियों को पूरे तीखेपन के साथ व्यक्त करने लगते हैं। जब वे तत्कालीन व्यवस्था के सम्मुख चुनौती बनकर खड़े हो जाते हैं। जब उनकी स्थिति पर बहस शुरू हो जाती है और ऐसी बहस या विमर्श के कारण उनके प्रश्न समस्या का रूप ग्रहण करने लगते हैं।

साहित्य में अक्सर ऐसा होता है कि पहले संवेदनशील लेखक सर्जनात्मक रचनाओं द्वारा अपनी व्यथा को, अपनी अस्मिता पर पहुँचे आघात को व्यक्त करता है, बाद में उस पर बहस शुरू हो जाती है। इसलिए साहित्य में नए विमर्श तभी शुरू हो जाते हैं जब सर्जनात्मक स्तर पर व्यथा वेदना व्यक्त हो जाए। समीक्षक उस व्यथा-वेदना के जड़ तक पहुँचने के लिए उस पर बहस करने लगता है। उनके आयामों से उस पर विमर्श शुरू हो जाता है। इस दृष्टि से देखें तो हिन्दी में दलित-विमर्श तभी से शुरू हो जाता है जब दलित संवेदना की अभिव्यक्ति होने लगती है। जब स्त्रियाँ बेबाक पद्धति से लिखने लगती हैं। विमर्श की इस प्रक्रिया को लेकर इसके जन्म की एक सैद्धान्तिकी बनाना कठिन है। क्योंकि इसके जन्म का कोई एक कारण तो नहीं होता। मराठी में फुले और अम्बेडकर के विचारों पर बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक से ही विमर्श शुरू हो चुका था। फुले और अम्बेडकर इसे समस्या के रूप में प्रस्तुत कर चुके थे। परन्तु दलित संवेदना की अभिव्यक्ति बीसवीं सदी के छठे दशक से शुरू हो जाती है।

मराठी में पहले विमर्श बाद में साहित्य और फिर विमर्श ऐसी स्थिति है। इसके ठीक उलटे हिन्दी में पहले सर्जनात्मक साहित्य और बाद में विमर्श ऐसा चित्र है। यहाँ एक अन्य पहलू की ओर भी ध्यान देना जरूरी है। विमर्श की अन्तरराष्ट्रीयता। दलित

और स्त्री-विमर्श ये जितने राष्ट्रीय या स्थानिक हैं, उतने ही वे अन्तरराष्ट्रीय भी हैं। विश्व में वंश, रंग या प्रदेश के नाम पर किसी एक तबके के मानवाधिकारों को छीन लेने की, उन्हें गुलामी में रखने की परम्परा रही है। यूरोप में विशेषकर अमेरिका में रंग के नाम पर नीग्रो के साथ यह हुआ तो जर्मनी में यहूदियों के साथ। धर्म या सत्ता के नाम पर यहाँ की स्त्रियों के मानवाधिकार छीन लिये गए। उपेक्षितों, श्रमिकों, पतितों, दलितों के साथ यही हुआ। इसका प्रमाण यह है कि बीसवीं सदी में अमेरिका में नीग्रो विमर्श के केन्द्र में था।

अपने मानवाधिकारों के लिए वे संगठित हो रहे थे। सर्जनात्मक स्तर पर साहित्य की अनेक विधाओं में वे खुद को व्यक्त कर रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मराठी दलित-साहित्य के जो अनेक प्रेरणास्रोत हैं, उनमें नीग्रो साहित्य भी है। ठीक इसी तरह विश्व-भर की स्त्री बीसवीं सदी में अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संगठित होने लगती है। पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था की ओर वह एक चुनौती के रूप में खड़ी हो जाती है। स्त्री-विषयक जो वैचारिक लेखन यूरोप की भाषाओं में हुआ, वह यहाँ स्त्री-विमर्श के लिए एक उर्जास्रोत के रूप में कार्य कर रहा है। यह सही है कि प्रत्येक समस्या के मूल में स्थानिक कारण होते हैं, उस भाषिक समाज की संस्कृति, वहाँ का धर्म, परम्परा, रुढ़ियाँ कारणीभूत होती हैं, परन्तु उसी समय वह समस्या अन्तरराष्ट्रीय स्तर की भी हो जाती है। क्योंकि अन्ततः वहाँ का धर्म, परम्परा, रुढ़ियाँ कारणीभूत होती हैं, परन्तु उसी समय वह समस्या अन्तरराष्ट्रीय स्तर की भी हो जाती है। क्योंकि अन्ततः विश्व में सभी ओर स्त्री-पुरुष हैं इसके कारण उनकी समस्याओं में, उन पर होने वाले विमर्शों में कहीं-न-कहीं समानता भी होगी ही। प्रत्येक काल के साहित्य में नए विमर्शों का उदय होते रहता है।

नवजागरण काल में स्त्री-शिक्षा यह विमर्श का विषय था। बाद के कालखंड में राजनीतिक स्वतन्त्रता, हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न तथा दलितों के राजनीतिक अधिकार ये प्रश्न विमर्श के केन्द्र में थे। वर्तमान युग में दलित और स्त्री के मानवाधिकारों का, समतावादी समाज का प्रश्न विमर्श के केन्द्र में है। बहुत धीमे स्वर में आदिवासी जीवन भी विमर्श के केन्द्र में आ रहा है। अल्पसंख्यकों में जो पिछड़े हैं, उन पर भी बहस शुरू हो चुकी है। इसके अलावा तृतीयपन्थी या नपुंसक लिंगी के मानवाधिकारों के प्रश्न पर भी विमर्श जारी है। समतिंगी विवाह पर भी कभी-कभार बहसें होती हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कल तक समाज के जिस तबके को हाशिए में डाल दिया गया था, वह पूरे आत्मविश्वास के साथ केन्द्र की ओर बढ़ रहा है। अपनी अवस्था को लेकर वह बैचैन था और है। अब वह समाज में अपनी जगह ढूँढ़ रहा है, संगठन और विमर्श द्वारा वह केन्द्र में आना चाह रहा है। जब भी ऐसे हाशिए का समाज केन्द्र में आने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, तभी साहित्य में नए विमर्श का उदय होने लगता है।

भारतमाता की जय : एक विमर्श

विजय रंजन*

निर्विवादतः वर्तमान में हमारे राष्ट्र का सांस्कृतिक परिदृश्य यह निनादित करने में समर्थ है कि हममें से बहुलांश दम्भ करने के लिए तो भारत जैसे महान् देश के नागरिक हैं किन्तु वे भारत, भारतीयता और राष्ट्रवाद सदृश अस्मिताओं के मूल तत्त्वों से अनभिज्ञ हैं। यदि यह अनभिज्ञता सघन न होती तो सम्भवतः 9 फरवरी 2016 का जे. एन. यू. दुष्कांड और भारतमाता की जय पर विवाद उत्पन्न नहीं होता। अतः यह प्रश्न सारहीन है कि भारतमाता की जय बोलने पर बल दिया जाना आवश्यक क्यों है।

वस्तुतः भारतमाता की जय एक ऐसा राष्ट्रवादी जयधोष है जिसके निहितार्थ बहु-आयामी हैं। आचार्य अभिनव गुप्त के ‘ध्वन्यालोक’ के व्याज से कह सकते हैं कि सामान्यतया वाक् व्यक्ति के अन्तर्मन में उपजे भाव की अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार सन्दर्भगत जयधोष राष्ट्रिक के राष्ट्र-प्रेम को दर्शने के साथ-साथ उसके अन्तर्मन में उपजे भाव की थाह भी प्रदर्शित करता है। शब्द की वैखरी, मध्यमा, परा और पश्यन्ती शक्तियों से निःसृत अर्थ अभिधा के साथ-साथ लक्षणा और व्यंजना में भी बहुत कुछ कहते हैं। भारतमाता की जय के सन्दर्भ में भी इस शब्द-बन्ध के व्यंजना और लक्षणा अर्थ महत्वपूर्ण हैं। तदनुसार विवेचना करें तो स्पष्ट होगा कि जय कोई तभी प्राप्त करता है, जब भौतिक और नैतिक रूप में वह सबल हो। इस तरह ‘भारतमाता की जय’ शब्दान्तर से भारत के सबल होने की कामना है। तथैव, सन्दर्भगत जयधोष से इनकार का अर्थ भयावह अर्थोन्मीलन ध्वनित करता है। लैकिन कोई वेशर्म हठधर्मी पर कटिबद्ध हो जाए तो कैसे बताएँगे आप उसे कि यह जयधोष आवश्यक क्यों है? प्रसंगित ‘क्यों’ निस्सार तभी होगा जब प्रश्नकर्ता के अन्तर्मन से तद्रगत प्रश्नावलि दूर कर दी जाए। एतदर्थ प्रश्नकर्ता को बताया जाना अपरिहार्य है कि ‘भारत’-भूमि माता का सम्मान प्राप्त करने योग्य क्यों है, भारत’ का अर्थ-निक्षेप क्या है और, इस जयधोष का तात्पर्य-विन्यास कहाँ तक है?

* विजय रंजन, सम्पादक : अवध-अर्चना, 4/14/41ए महताव बाग, अवधपुरी कालोनी फेज-2, कैजाबाद-224001, (उ.प्र.) मो. 09415056436; ई-मेल ranjanvijay@gmail.com

दुर्योग से 15 अगस्त 1947 के पूर्व विगत 900 वर्षों के दासता-काल में हमारे जो सत्ताधारी सत्तासीन रहे, वे भारत या कि भारत माता की जय के हासी नहीं रहे। 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी हमारे पश्चिमोन्मुखी कर्णधार इस विषय में उदासीन रहे। इस उदासीनता से आज का सच यही है कि बहु-बहुलांश भारतीय यह जानते ही नहीं कि भारत है क्या?

भारत को कतिपय विदेशी सपेरों, जादूगर और नाचनेवालियों का देश या कि चरवाहों का गीत गानेवालों का देश या कि सती प्रथा, घोड़ुल जैसी प्रथाओं का देश बताते हैं। भारत के मूल निवासी आर्यों को आक्रमणकारी विदेशी बताते हुए भारत को अनेक राष्ट्र/समाज/संस्कृतियों का समवाय भी बताते हैं वे! क्या यही है भारत? नहीं न!

निश्चित रूप से 3287590 वर्ग कि.मी. तक विस्तीर्ण या कि पूर्वांचल की 7 बहनों के प्रदेशों से पंजाब तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण या कि 127 करोड़ जन के निवास का देश; इतना भर भी नहीं है भारत?

और, कैसियस की ‘इंडिका’, हेरोडोटस की ‘हिस्टोरिका’, मेगस्थनीज़ की ‘इंडिका’, हीकेटियस मिलेटस के ‘जियोग्रॉफिया’ या कि अलबरूनी, प्रथम शती ई.पू. के चीनी यात्री सुमाचीन या बाद के फाह्यान, ह्वेन्सांग आदि द्वारा विवरणित देश मात्र भी नहीं है भारत। कोलम्बस, वास्कोडिगामा प्रभृति समुद्री यात्रियों के सपनों का सम्पदा-सम्पन्न देश तक सीमित भी नहीं है यह। और न ही लगभग 900 वर्ष लगातार विदेशी आधिपत्य में रहने वाला देश या कि वह देश जिसे 15 अगस्त 1947 को विदेशी दासता से स्वयं सम्प्रभु राजनीतिक सत्ता हस्तान्तरित हुई थी, इतना भर है भारत?

नहीं, इन सबका समुच्चय/समवाय मात्र भी नहीं है ‘भारत’। तब स्वाभाविक प्रश्न उभरता है कि ‘क्या है भारत’?

अति संक्षिप्तप्ततः कहना होगा कि आदिकाल से सात्त्विक रागात्मक रचनाधर्मिता वाली प्रज्ञा-प्रदायी देवी भारती (सरस्वती) से सम्पूर्ण है ‘भा + रत’। अर्थात् ‘निरन्तर प्रकाश (ज्ञान) की खोज में निरत’ रहनेवाला देश है यह। तदनुसार प्रकाश-खोजी सात्त्विक रचनाधर्म संस्कृति का देश और, विशिष्ट संस्कारों एवम् विशिष्ट सांस्कृतिक संचेतनावाला समाज/राष्ट्र रहा है ‘भारत’। भारतीयता की पहचान देवी भारती से ही संयुक्त है।

ध्यातव्य है कि जिस देश-समाज में सन्तान का नामकरण भी व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार किया जाता है, उस देश का नाम ‘भारत’ अकारण नहीं रखा गया। महाकवि कालिदास के अनुसार हर राष्ट्र की एक विशिष्ट प्रकृति, उसका एक विशिष्ट शील, उसकी एक विशेष क्रता होती है। यहाँ की विशिष्ट क्रता, विशिष्ट शील, विशेष प्रकृति के आधार पर ही रखा गया प्रतीत होता है भारत का नाम। पश्चिम में भू-क्षेत्र, जैविक

सम्पदा, जनसंख्या, सेना, कोष, सम्प्रभुता आदि के सहयुजन वाली इयत्ता को भले राष्ट्र-राज्य या राज्य-देश माना जाए लेकिन, हिमालय से आसपास, कामरूप से कच्छ, कन्याकुमारी से कश्मीर तक परिव्याप्त विशिष्ट ऋता वाला देश ‘भारत’ भू-क्षेत्र, वनसम्पदा, नदी, पर्वत, खनिज, पशु-पक्षी आदि जैविक सम्पदा और जनसंख्या के सहयुजन वाले भू-क्षेत्र से कहीं आगे है भारतत्व और तदगत भारत की इयत्ता। भारतीय मनीषा के अनुसार उपरि-अंकित भू-क्षेत्र आदि मात्र ‘मृणमय भारत’ या कि भारत का ‘अन्नमय कोष’ है ; यहाँ की विशिष्ट संचेतना ‘भारतत्व’ (भ + र + त + त्व अर्थात् प्रकाश-निरतता) यहाँ का ‘प्राणमय कोष’ है जबकि यहाँ की भास्वद् सारस्वत भा + रती चिन्मयता भारत का ‘मनोमय कोष’ है। यहाँ का मानवहिती उच्चकोटिक दर्शन-योग-अध्यात्म, विशिष्ट शिक्षा और विशिष्ट संस्कृति भारत का ‘विज्ञानमय कोष’ है।

निरुक्त प्रभृति ग्रन्थ का आश्रय लेकर ‘भारत’ को देखें तो स्पष्ट होगा कि भारत है भा + रत या कि ‘भ + र + र + त’ का समुच्चय। भ का अर्थ है प्रकाश अर्थात् वह अवयव जो विश्व को ज्योतित करता है, जो ज्ञान भी प्रदान करता है, ज्योति (रोशनी) और ऊर्जा भी। जो सत्त्व भी है और सत्त्व का उद्गाता भी। जो अंधकार-वेधक, तमस-वेधक भी है और तमस-वृत्ति का निवारक भी। ऐसे सद्गुणों के प्रतीक ‘भ’ के ‘भ-त्व’ को उभारने के क्रम में तदगत अर्थवाचन वाली ‘आ’ की मात्रा ‘र’ से संयुक्त करने के पश्चात् उसे ‘रत’ से सम्पृक्त करके विनिर्मित होता है ‘भारत’; अर्थात् प्रकाश को उभारने में रत (संलग्न) अर्थवाचन का साक्षात् प्रतीक है ‘भारत’। यह प्रकाश-निरतता यहाँ का प्रमुख आत्मतत्त्व है।

निरुक्त के अनुसार ‘भारत’ का अर्थ ‘सूर्य को आगे लाने में निरत’ (सूर्योपासक) के अर्थ में है।

ऋक् (2/7/1 एवं 5, 4/75/4, 61/6/19-45) में ऊर्जाप्रदायी, दोशधन अग्नि को भारत कहा गया। वैदिक ग्रन्थों में और श्रीमद्भगवद्गीता में भी ‘भारत’ शब्द का अनेकशः प्रयोग है। उन सभी स्थलों पर ‘भारत’ एक देश या राष्ट्र के रूप में नहीं अपितु एक ‘सचेतन ज्ञानोन्मुख सत्ता’ के रूप में प्रोक्त है।

भारत के नामकरण के विषय में कहते हैं कि नए स्वर्ग की रचना की सामर्थ्य रखने वाले और गायत्री मंत्र की विरचना पूर्ण करने वाले ऋषि विश्वामित्र के दौहित्र शाकुन्तल भरत के नाम पर या कि जैनियों के आदितीर्थकर ऋषभदेव के संस्कारी वीर पुत्र भरत के नाम पर नामकृत हुआ था भारत। ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ में दौश्यन्ति को यहाँ का राजा बताते हुए भरत कहा गया। वहाँ, ‘महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जना’ श्लोक के अनुसार जनों में अप्रतिम महान् कर्म करने वाले को भरत कहा गया। कुछ विद्वान् भारत का नामांकन सौवीर नरेश रहूण को ज्ञानोपदेश देने वाले जड़भरत

के नाम पर किया गया बताते हैं। सम्भव है सरस्वती-प्रदेश कैकय से लेकर गंगा-तीरे तक विस्तुत कोशल से सम्बद्ध राजकूमार भरत जिनके अग्रज राम ने दक्षिणापथ से भी अन्याय-अत्याचार को मिटाकर श्रेष्ठ संस्कारों वाली संस्कृति से दक्षिणापथ को ओत-प्रोत कर दिया—ऐसे रामानुज भरत के नाम पर नामांकित हुआ हो भारत। लाला सीताराम लिखित ‘अवध का इतिहास’ स्वीकारें तो कह सकते हैं कि चन्द्रवंशी शाकुन्तल भरत के बहुत पहले पुरुरवा के अर्मिन-ध्वंस को कारित करने वाले ‘भरत गण’ के आदि-पुरुष ‘भरत’ के नाम पर इस देश को ‘भरत’ कहा गया। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. सुकुमार सेन के ‘भारतीय साहित्य’ के अनुसार भी ‘भरत’ नामक एक आर्य जनजाति के नाम पर नामित किया गया था भारत। यह जनजाति पाणिनि के समय उत्तरापथ में फैल गई थी। यह भरत जाति साहित्य, संगीत, नाटक आदि में अति प्रवीण थी। वायुपुराण में लोक का भरण करने वाले को ‘भरत’ कहा गया है। वायुपुराण में ही प्रथम मानव (प्रथम होमोसैपियन्स सैपियन्स) मनु को भरत कहा गया। प्रतीततः जाग्रत बुद्धि वाला प्रथम होमोसैपियन्स सैपियन्स जिसने ‘कबीला’ की संस्थापना की; उसके सुरक्षा/संरक्षा पोषण की व्यवस्था की, वही थे मनु जिन्हें भरत कहते हुए उनके नाम पर उनके गुणों को चरितार्थ करने वाले देश को ‘भरत’ कहा गया।

प्रकट है कि ‘भरत’ चाहे कोई भी माना जाए, भरत के उपरिअंकित विशिष्ट गुण जहाँ यत्र-तत्र-सर्वत्र परिव्याप्त हैं, उस देश (=वर्ष) को ‘भारत’ कहा गया है हमारे वाङ्मयों में।

जहाँ तक देश ‘भारत’ के लिए ‘भारतवर्ष’ शब्द के प्रयुक्त होने का प्रश्न है, उस फलक पर द्रष्टव्य है कि प्राचीनकाल में इस भूखंड (=वर्ष) को ‘अजनाभ वर्ष’ कहते थे। अजनाभ वर्ष अर्थात् आदि सिसूक्षा की कारयित्री शक्ति ‘अज’ की नाभि-भूमि अर्थात् सूचित-विधाता की धरती।

शब्द ‘भारतवर्ष’ का सविस्तार उल्लेख महाभारत, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण आदि में है—

“उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रिंश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥” — विष्णुपुराण

“उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवदक्षिणं च यत् ॥
वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेवं भारती प्रजा ॥” — वायुपुराण

“एतत्तु भारतवर्षः चतुःसंस्थानं सङ्ग्रितम् ।
दक्षिणापरतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः ॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथागुणः ॥” — मार्कण्डेय पुराण

“अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।
यतो हि कर्मभूरेषां ततोन्यां भोगभूमयः ॥”

— विष्णुपुराण

“यत्र ते भारता जाता भारतान्वय वर्द्धना ।
भारताद् भारती कीर्तिं येनेदं भारतं कुलम् ।
अपि ये चैव पूर्वं वै भारतो इति विश्रुतः । ”

— मत्स्यपुराण

“अपरे ये च पूर्वं च भारताः इति विश्रुताः ।
भरतस्यान्वाये हि देवकल्याः महोजसः ॥”

— महाभारत

उपर्युक्त श्लोकों में भारतवर्ष की केवल सारस्वतता या/और भौगोलिक सीमा ही इंगित नहीं है अपितु इनमें ‘भारतीयता क्या है’, ‘भारतीय के कर्तव्य क्या है’—आदि भी सूत्र रूप में निहित हैं। ‘भारती-कीर्ति’ एवं ‘भारतान्वय के वर्धनं’ का उपरि-अंकित निर्देश बताता है कि सत्त्वशील भारती के सद्गुणों से अर्थात् सत्त्व, ऋत, नय, रचनाधर्मिता, शिवत्व, सार्वसुन्दरम् आदि से आसिक्त देवी सरस्वती (भारती) से समेकित ‘भारतान्वयता’ का प्रसार करने वाला और ऐसे सारस्वत सद्गुणों का संवर्धन करने वाला ही ‘भारतीय’ है। ऐसा व्यक्ति ही ‘भारतौविश्रुता’ हो सकता है। भास्वद् दैवीय चिन्मयता का यही संस्कार भारत और भारतीय की रेखांकनीय विशिष्टता, विशिष्टता, विशिष्टता है।

उपर्युक्त श्लोकों से प्रकट है यह भी कि भारत की सन्तति को ‘भारती’ कहा गया है। ‘भारती’ नाम उस देवी का है जो आपादमस्तक सत्त्व की देवी हैं, जो रचनाधर्मिता, प्रबोधन, शुभता, शुभ्रता, सत्, ऋत, लोक-कल्याण सदृश सद्गुणों से सम्पन्न सर्वपूज्या देवी हैं। वे साहित्य, संगीत, कला, धी, ज्ञान, प्रज्ञा और ऋतम्भरिक प्रज्ञा की प्रदात्री भी हैं। ऐसी देवी सरस्वती की ही सन्तति-प्रसन्तति हैं ‘भारतीय’। भारती के नाम से समेकित होते ही हर भारतीय (व्यक्ति हो या विचार या वस्तु) के लिए अपरिहार्य हो जाता है कि वह देवी भारती (देवी सरस्वती) के सद्गुणों से आच्छादित हो।

देवी सरस्वती सार्वकल्याणी हैं। वाच्-वाक् स्वरूप में देवी भारती ‘व्यक्ति-व्यक्ति’ और ‘व्यक्ति-समाज’ के सौमनस्यपूर्ण अन्तःसम्बन्धों की कारक हैं। काव्य में स्वयं प्रवृत्त होने पर वे लोकात्रा सुप्रवर्तन का पथ प्रशस्त करती हैं। सम्भवतः इसीलिए विश्व के सभी संस्कृति-सम्पन्न समाजों में देवी सरस्वती किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं और पूज्या भी हैं। सामी जगत् में देवी इन्हें दुआना, जापान में देवी बैंजाइतेन, चीन में नीला देवी, तिब्बत में नील सरस्वती, इंग्लैण्ड में म्यूजेस, इटली में फेमिना, यूनान में मुख्यतया सैफो आदि के स्वरूपों में देवी सरस्वती अपने सारस्वत सद्गुणों के आधार पर आविश्व आदरणीया और सम्पूज्या हैं। तदनुरूप सारस्वत तत्त्वों के संस्कारों वाली सर्वव्याप्त देवी भारती (सरस्वती) के नाम से समेकित हैं ‘भारतीय’।

देवी सरस्वती (भारती) की संचेतना से सम्पूर्क्त और ‘भ+र+त+त्व’ (भा+रत+त्व) वाला भारत ही वास्तव में ‘चिन्मय भारत’ है जो श्रेष्ठ है, देव-कल्प है, महौजस है। महाभारत (भीष्म पर्व) में भारत को देवकल्प महौजस बताते हुए इसे देवताओं सहित देवराज इन्द्र का प्रिय, धर्मात्मा और शक्तिशाली सप्तराटों का प्रिय बताया गया—“अन्येषां च महाराज...सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्।”

शबर के जैमिनीभाष्य के श्लोक 10/1/35 के अनुसार हिमवत् से कुमारी अन्तरीप तक एक देश, एक भाषा थी। इसे भारत कहा गया। ‘बृहत्संहिता’ के नक्षत्र कूर्माध्याय 14/1-33 में वर्णित ‘भारतवर्ष’ वर्तमान भारत से बहुत बड़ा प्रक्षेत्र था। उसमें गान्धार से लेकर दक्षिण-पूर्व के अनेक देश मलाया, सुमात्रा, जावा आदि को भारतवर्ष में समाहित बताया गया है। ‘राजतरंगिणी’ आदि ग्रन्थों में भी भारत के विस्तार का विचास विवरणित है। महाभारत में “यदिदं भारतवर्षं यत्रेदम् मूर्च्छितम् बलम्...” के श्लोक में ‘कुरु पांचालाः शाल्व माद्रेय जांगलाः कश्मीराः सिन्धु सौवीराः...आन्धश्च कुलूताश्च शैबला बाहलीकाः’ तक विस्तृत बताया गया भारत। यह कमोबेश वर्तमान के भारत-पाकिस्तान-बाँग्ला देश तक के क्षेत्र-विस्तार तक विस्तृत था। महाभारत का भारत आर्यवर्त या ब्रह्मवर्त से भी विस्तृत था। प्रख्यात संस्कृत आचार्य पी. वी. काणे भी ‘धर्मशास्त्र का इतिहास’ में लिखते हैं—“प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतवर्ष का केवल 9वाँ भाग आज का भारतवर्ष है। अन्य आठ भाग वे देश-द्वीप हैं जो आज के भारत के दक्षिण-पूर्व में पड़ते हैं।”

उपर्युक्तानुसार, प्राचीन वाङ्मय को स्वीकारें तो धरातलीय स्तर पर भारतवर्ष अति विस्तृत भू-भाग था। यह सम्भवतः तब की बात होगी जब टेथिस सागर बहुत सीमित था।

कुबेरनाथ राय प्रभृति अनेक अधुना विद्वान् मनीषी ‘भारत’ को मात्र मृण्मय सत्ता न मानकर इसे विशिष्ट संस्कारों से सुसम्पन्न एक विशिष्ट बोधसत्ता : ‘चिन्मय सत्ता’ के रूप में स्वीकारते हैं। इन पंक्तियों का लेखक भी इसी अभिमत का है।

और, ऋग्वेद, महाभारत, मत्स्यपुराण, वायुपुराण आदि से लेकर कुबेरनाथ राय आदि अधुना विद्वानों तक को समेकित करें तो अवगत होगा कि कतिपय विशिष्ट संस्कार, श्रेष्ठ संस्कार, चिन्मयी संस्कार, सिसुक्षा संस्कार, अन्धकार-विनाशक प्रकाशोन्मुख संस्कार, सारस्वत संस्कार आदि से सुसंस्कारित दिदृक्षा वाले देश को ही ‘भारतवर्ष’ कहा गया।

संपिण्डिततः, कह सकते हैं कि प्राचीनकाल से अद्यतन चिन्मय भारत की बीजरूपीय विद्यमानता और तदगत शाश्वतता के सम्बल से ‘चिन्मय भारत’ और ‘मृण्मय भारत’ के साथ ही ‘शाश्वत भारत’ भी अस्तित्ववान् है यहाँ।

वायुपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, बृहत्संहिता के रचयितागण आदि ही नहीं, अपितु विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. सम्पूर्णानन्द प्रभृति अनेक अधुना विचारक मनीषी भी शब्दान्तर से ‘चिन्मय भारत’ को ही उपास्य मानते हैं। ‘गायन्ति देवाः किल गीतिकानि’ सदृश प्रशंसा ‘शाश्वत भारत’ की ही की गई है। दाराशिकोह, थोरो, शोपेनहावर, रोम्या रोलाँ, कामिल बुल्के, सिस्टर निवेदिता आदि भी इसी ‘शाश्वत भारत’, ‘चिन्मय भारत’ से अभिभूत हुए थे।

और, आलोच्य सन्दर्भों में विदेशी साक्ष्यों को ही प्रमाण मानना हो तो द्रष्टव्य है कि पारसी धर्मग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता के एक भाग ‘बेंदिदाद’ के प्रथम अध्याय के 18वें पद में भारतवासियों के लिए ‘हिन्दू’ शब्द मिलता है—“जिसे हम भारत कहते हैं वह ईरान से पूर्व का भूखंड है, उसे बेंदिदाद में विश्व का सर्वोत्तम 15वाँ प्रदेश ‘हफ्तहिन्दुकन’ कहा गया है।” (बेंदिदाद : अँग्रेजी अनुवादक बेहरामगोर अंकलेस्परिया, के. आर. कामा इंस्टीट्यूट 1949)। अन्य ग्रन्थ ‘मेहरयास्त’ और ‘शातीर’ में भी कमोबेश ऐसा ही वर्णन है। ‘शातीर’ में सप्राट गुज्जाव और जरथुष्ट के बीच वार्ताताप में भी इस भूमि को ‘हिन्दू देश’ कहा गया है। सन्दर्भगत ‘हिन्दू’ शब्द ‘बेंदिदाद’, ‘मेहरयास्त’, ‘शातीर’ आदि में सम्मान्य अर्थों में प्रयुक्त है; वह अहल-ए-किताब है। ‘लुटेरा’, ‘डाकू’, ‘काफिर’, ‘दुर्जी’, ‘गुलाम’ के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है ‘हिन्दू’ शब्द प्राचीन अरबी-फारसी ग्रन्थों में। प्राचीन अरबी-फारसी मनीषा से ऐसे सम्मान्य अर्थों वाले ‘अहल-ए-किताब हिन्दुओं’ का देश रहा है ‘हिन्दीक या हिन्द’। सामी धर्म-दर्शन के आविर्भाव के बहुत पूर्व और हजरत ईसा, मूसा, मोहम्मद साहब के उद्भव के बहुत-बहुत पूर्व 486 ई. पू. के पर्सिपोलिस स्तम्भ में भी ‘हिन्दू’ के गुणगान उल्लिखित हैं। हीकेटियस मिलेटस, हेरोडोटस, कैसियस, सुमाचीन, फाल्गुन, द्यवेन्सांग, मेगस्थनीज़, अलबरूनी आदि के ग्रन्थों से भी भारत/हिन्दुस्तान का सम्मान्य एवं गौरवपूर्ण विन्यास-विस्तार आकलित किया जा सकता है। बिड़ला मन्दिर नई दिल्ली के खम्भों पर अंकित एक आलेख के अनुसार 1800 ईसा पूर्व के प्राचीन अरबी ग्रन्थ ‘सेअस्तल ओकुल’ के पृ. 257 पर लबी-बिन-ए-अख्लाब-बिन-ए-तुरफा की लम्बी कविता में इस भूमि को ‘हिन्दू देश’ कहा गया।

जहाँ तक भारतवासियों को ‘हिन्दू’ और भारत को हिन्दुस्थान/हिन्दुस्तान कहने का प्रश्न है, उस सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि हमारे यहाँ ‘बृहस्पति आगम’ नामक ग्रन्थ के अनुसार ‘हिमालय’ से ‘हि’, इन्दु सरोवर (कन्याकुमारी अन्तरीप) से ‘न्दु’ लेकर देवनिर्मित विस्तृत स्थल का नाम बना ‘हिन्दुस्थान’। ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो ईरान से पश्चिम भू-क्षेत्र को समुद्र पर्यन्त ‘हिन्दुस्थान’ बताते हैं। इसी ‘हिन्दुस्थान’ को प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में ‘भारत’/‘भारतवर्ष’ बताया गया है।

बताते चलें कि यहाँ केवल भारत, भारतत्व और भारतीयता को अनुशीलित किया जा रहा है। इन पंक्तियों का लेखक भारत के ‘हिन्दुस्थान’, ‘हिन्दुस्तान’ होने पर बल नहीं देना चाहता, इसलिए कि ‘हिन्दू’ की धनि सुनते ही छद्म-धर्मनिरपेक्षी कलप उठेंगे। फिर भी कहना होगा कि भारत की उपरि-इंगित महानता, महत्ता को भुला दिया गया है—इसी से कारित हो रहा है ‘भारतमाता की जय’ सम्बन्धी विवाद।

जहाँ तक ‘भारतमाता की जय’ का प्रश्न है, उस सन्दर्भ में प्रथम तथ्य है कि ‘भारत माता की जय’ एक प्रतीक है उस भावना का जिसके माध्यम से प्रकट होता है कि भारत-भारतीयता के प्रति, भारत-राष्ट्र के प्रति, राष्ट्र की जय के प्रति कितना अनुरागी है भारतीय राष्ट्रिक? कितना सम्मान है उसके मन में इन इयत्ताओं के प्रति, इनकी अस्मिताओं के प्रति? वास्तव में इन तथ्यों पर विवाद तो वही प्रस्तुत करेंगे जिनके मन में राष्ट्र और राष्ट्रवाद आदि के बारे में संशय है।

तथ्यतया ‘राष्ट्रीय’ अस्मिताओं से ममत्व का भावबोध का सांस्कारिक सैद्धान्तिक उद्घोष है ‘भारतमाता की जय’।

विदित हो कि 10,000 वर्ष प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में आविश्व प्रथम बार ‘राष्ट्र’ शब्द का प्रयोग किया गया ‘अहम् राष्ट्री संगमनी...’ ऋग्वेदोक्त सूक्त में (कहीं-कहीं अहम् राष्ट्रे संगमनी। पाठ मिलता है)। वैदिक संस्कृत में राष्ट्री शब्द राष्ट्र के सप्तमी विभक्ति के एकवचनीय राष्ट्रे के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में ‘संगच्छधं संवदधं सं वो मनांसि जानताम्, देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते’ (ऋक् 10.191.2) एवं ‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्, समान मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि’ (ऋक् 10.191.3) सदृश ऋचाएँ गुंजायमान हैं। अथर्ववेद 29/1 में भी कहा गया—‘ब्रह्मण्प्रस्ति राष्ट्राय वर्धय (ज्ञानीजन राष्ट्र के लिए आगे बढ़ें)।’ यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर विभिन्न स्वरूपों में ‘राष्ट्र’ शब्द प्रयुक्त है। ‘ऋग्वेद में एक ऋचा में स्पष्ट रूप से कहा गया कि—“मातृभूमि, मातृभाषा और स्वसंस्कृति से प्रेम करना धर्म है।”

पाश्चात्य राष्ट्रवादी विचारक जोसेफ मैजिनी मानते हैं कि राष्ट्र एक ऐसा ध्येय है जो बन्धुत्व के रूप में एकात्म मानवता के समान लक्ष्य का परिपूरक है। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्री जे. एच. रोज का मानना था कि—“‘राष्ट्रवाद’ हृदयों की ऐसी एकता है जो एक बार बनकर नहीं टूटती। ‘राष्ट्र सर्वोपरि है’—इन तीन शब्दों में ही ‘राष्ट्रवाद’ का सम्पूर्ण अर्थ निहित है।” इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार—‘राष्ट्रवाद’ एक ऐसी मनोदशा है जिसमें व्यक्ति अपने राष्ट्र-राज्य के प्रति उच्चतर भक्ति-भावना का अनुभव करता है। राष्ट्रवाद से सम्बन्धित अनेक विषयों की फ्रेंच लेखक अर्नेस्ट रेनन की कृति (ऑग्रेजी अनुवाद : ‘हाट इज नेशन’) में सविस्तार विवेचना की गई है। श्री रेनन के अनुसार—“राष्ट्र एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इतिहास की जटिलताओं का हासिल, न कि धरा

पर एकजुट हुए जमावड़ों का सिलसिला।” +++++ “राष्ट्र की तामीर के लिए एक भाषा, एक धर्म या एक आर्थिक हितों वाला समुदाय जरूरी नहीं, जरूरी एक विचार, सच्चा भाव और मूल्य होना चाहिए।” प्रख्यात चीनी राष्ट्रवादी राष्ट्रपति सुनयात सेन का मानना था—“राष्ट्रवाद केवल एक नकारात्मक अवधारणा नहीं अपितु यह देशवासियों को सकारात्मक मूल्यों के लिए संगठित करने वाली शक्ति भी बन सकती है।”

इस तरह ‘राष्ट्रवाद’ औपनिवेशिक लूट-खसोट का विरोध या कि विदेशी सत्ता का विरोध मात्र भी नहीं है वरन् राष्ट्र के प्रति एक सकारात्मक उद्भावना है।

संपिण्डिततः ‘राष्ट्रवाद’ राष्ट्र-कल्याण, राष्ट्रप्रेम या देशप्रेम मात्र तक सीमित नहीं है बल्कि यह ‘भौतिक एकात्म’ की भावना है; राष्ट्र से राष्ट्रिक के एकात्म की भावना। इस उद्भावना से स्थानिक सभ्यताओं, आचार, वेषभूषा आदि में किंचित् भिन्नता होने की दशा में भी सभ्यता और संस्कृति समन्वयकारिता से ‘समरूप-समरस’ बन जाती है जिससे संशिलष्ट स्वरूप में जन्मता है राष्ट्रवादी एकात्म। देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रहित—संरक्षा आदि के भाव राष्ट्रवाद के फलित हैं। विदेशीय का विरोध भी राष्ट्रवादी उद्भावना से ही वाचाल होता है। ऐसे राष्ट्रवादी-अनुबंधों से भी सम्पृक्त है ‘भारतमाता की जय’।

विदित हो कि राष्ट्रवादी उद्भास वाचाल करने के लिए चीन, जापान ही नहीं अपितु सभी राष्ट्रों में आविश्व अपने-अपने ढंग से अपने राष्ट्र की जय का जयकारा उचारा जाता है ‘लांग लिव कंट्री’ या किसी समरूपी जयघोष के स्वरों में। ‘भारत माता की जय’ का उच्चार भी ऐसा ही एक उद्भास है।

‘भारत माता की जय’ के घोष के अन्य पक्ष भी देखें—

एक तो, ‘समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं...’ और ‘संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि...’ सदृश ऋग्वेदीय ऋचाओं में जो आसंगता दृश्यमान है उसका भी उद्भास है यह जयघोष। मैकडूगल ने भी ‘सामान्य मन (Common mind)’ को समाज के निर्माण के लिए वांछनीय बताया है। समाज से ही कालान्तर में राज्य का निर्माण हुआ और राष्ट्र का भी। निर्विवादतः किसी समाज/देश को ‘राष्ट्र’ बनाने के लिए राष्ट्रिकों में ‘सामान्य मन’ का होना अति वांछनीय है। राष्ट्र/देश/समाज के स्थायित्व के लिए भी ‘समान मन’ की आवश्यकता अन्यान्य परिप्रेक्ष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कोई राष्ट्र वास्तविक अर्थों में तब तक ‘राष्ट्र’ नहीं बन सकता जब तक उसके सभी राष्ट्रिकों का मनोमय-कोश राष्ट्रीय संस्कारों से समरैखिक न हो जाए। सन्दर्भगत जयघोष प्रयोग्य समरैखिकता का अभिज्ञापन भी है। अन्यथा की दशा में राष्ट्र राष्ट्र नहीं होगा वरन् जनसंकुल का एक जमावड़ा बनकर रह जाएगा।

दूसरे, उपरि-उल्लिखित ऋग्वैदिक ऋचा ‘अहम् राष्ट्री संगमनी...’ में ऋक् वेदकार ‘राष्ट्रम् संगमनी’ नहीं कहते, वरन् वे ‘अहम् राष्ट्रे संगमनी...’ कहते हैं।

इसमें राष्ट्र के एकवचन सप्तमी विभक्ति में ‘राष्ट्रे’ है जो ‘राष्ट्र में’ के अर्थवाचक सन्दर्भ में प्रयुक्त है अर्थात् राष्ट्र को राष्ट्रिक (राष्ट्रवासी) के साथ संगमन नहीं करना है अपितु राष्ट्रिक को राष्ट्र के साथ राष्ट्र में संगमन करना अपेक्षित है। इस ऋक्-निर्देश के अनुसार सभी राष्ट्रिकों की मानसिकता ऐसी होनी चाहिए कि वे राष्ट्र के साथ संगमन, सहगमन कर सकें। सन्दर्भगत सहगमन का परिचायक भी है सन्दर्भगत जयकारा।

जहाँ तक ‘भारत’ को ‘माता’ मानने की बात है—उस धरातल पर द्रष्टव्य है कि माता के प्रति हर धर्म-संस्कृति, हर समाज में सम्मान और आन्तरिक लगाव विद्यमान माना गया है इसलिए कि माता सन्तान को पोषण, संरक्षा और विकास का संसाधन प्रदान करती है। आविश्व शायद ही कोई ऐसा धर्म, संस्कृति या समाज हो जिसमें माता अनादरेण्य मानी जाती हो या उसके सुख-दुःख की चिन्ता न की जाती हो। माता द्वारा किए जाने वाले उपकारों के प्रतिदान में माता को मात्र आदरेण्य ही नहीं अपितु पूज्या भी माना जाता है। जन्मभूमि भी माता जैसा ही पोषण एवं संरक्षा आदि प्रदान करती है। इसीलिए भारतीय मनीषा जननी एवम् जन्मभूमि को समतुल्यतः स्वर्ग से भी बड़ा मान प्रदान करती है—“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।” राष्ट्र जिसमें जन्मभूमि समाहित है और जो जन्मभूमि की स्वयम्-सम्प्रभु वैधानिक सत्ता है—वह स्वतः आदरेण्य और पूज्य सिद्ध हो जाता है। आदि-महाकवि वाल्मीकि के युग से जन्मभूमि को माता के समतुल्य माना जाता रहा है यहाँ। अथर्ववेद के युग में जब भारत-राष्ट्र का विस्तार सम्पूर्ण पृथ्वी पर था जब कोई दूसरा राष्ट्र अस्तित्व में नहीं था, तब से माता भूमि: पुत्रो अहम् पृथिव्या सर्वमान्य रहा है यहाँ। यूरोप में मदरलैंड और सामी जगत् में मादरे-वत्तन वाले अर्थों में ही आदृत की जाती है भारत में भारतमाता। ख्यात शायर मुनव्वर राणा ने अपनी शायरी में ‘माता’ को देवी-समान सम्मान दिया है तो क्या वे काफिर हैं?

निश्चित रूप से भारतमाता के रूप में भारत के भौगोलिक नक्शे में शक्तिमती देवी दुर्गा की प्रकल्पना और तद्वत् भारतमाता की मूर्ति की संकल्पना 1935 के आस पास राष्ट्रवासी महामना मालवीय प्रभुति मनीषियों ने प्रकल्पित की और भारतमाता मन्दिर की संस्थापना भी तभी हुई। भारतमाता के सगुणाकार स्वरूप की आवश्यकता सम्भवतः प्रतीत हुई इसलिए कि सगुणाकार उपासना सहज होती है। देवी दुर्गा, देवी भारती का ही अपररूप हैं। देवी भारती से सम्पूर्कता ही पहचान हो जिसकी वह भारत यहाँ की धरती को देवी माता के समान पूज्या मानता है तो इसमें आश्चर्य क्या? तदपि सच है कि 33 देवी-देवताओं में भारतमाता नामक कोई देवी-देवता नहीं है और वास्तव में भारतमाता मूर्ति या मन्दिर तक सीमित भी नहीं हैं। यही सच है यह भी कि भारत माता की जय का चलन 1935 या बाद के वर्षों का अवदान नहीं है। 1935 के बहुत-बहुत पूर्व से प्रचलित है यह उद्घोष यहाँ। सगुणाकार उपासना के विरोधी भी

उच्चारित करते रहे हैं यह उद्घोष। स्वतन्त्रता आन्दोलन में तो बहु-बहु उच्चारित रहा यह। तब, इतिहासतः और तत्त्वतः ‘भारत माता की जय’ का उद्घोष मूर्तिपूजा कहाँ है? यह तो एक अमूर्त जयघोष है।

प्रकटतः ऐसे बहाने बचकाने हैं जो ‘भारत माता की जय’ से परहेज करने वालों को अराष्ट्रवादी सिद्ध करते हैं।

जहाँ तक ‘भारत माता की जय’ के बजाय ‘जय हिन्द’ कहने का प्रश्न है, हिन्द और भारत में अन्तर क्या है? पर्सीपोलिस के स्तम्भ हों या गुप्ताव-जरथूष्ट की वार्ता या कि ईरान, इराक, मिस्र, अरब, यूनान आदि के इतिहास, वहाँ भारत-भूमि को हिन्द ही कहा जाता रहा है। तब ‘जय भारत’ के बजाय ‘जयहिन्द’ कहना तो वैसा ही है जैसे गुड़ खाएँ गुलगुलों से परहेज करें।

और, जहाँ तक धार्मिक कुर्तक : एक खुदा के अलावा दूसरे किसी की पूजा न करने के तर्क का प्रश्न है, पूछना होगा कि पीर-फकीर की दरगाह पर ऐसे कथित धर्मालु जियारत करते हैं या नहीं? तब यह बहाना क्यों? हिन्दू धर्मपुरुष राम की शान में कसीदे पढ़ने वाले अल्लामा इकबाल हों या सै. महफूज हसन रिजवी या सैकड़ों शायर—क्या वे सभी काफिर हैं? नहीं, भारतमाता की जय का घोष किसी दृष्टि से न कुफ्र है, न पाप, प्रत्युत् यह राष्ट्रिक के राष्ट्रवादी, राष्ट्रप्रेमी और राष्ट्र से सममनस्क होने के साथ-साथ उसके राष्ट्र-कल्याण से आसंग होने का उद्भास मात्र है। ऐसे उद्भास उच्चार का अस्वीकार भारत राष्ट्र के भा+रत+त्व के प्रतिकूल भी है।

तथ्यतः 9 फरवरी को जे. एन. यू. में जो कुछ हुआ, उसके सापेक्ष ऐसे उद्भास/उच्चार तो अपरिहार्य सिद्ध हो जाते हैं। यह दुष्कांड अपघटित नहीं हुआ होता तो भी नहीं भूलना चाहिए कि शान्ति-काल में भी राष्ट्र की सेना द्वारा शक्ति-प्रदर्शन और तद्गत अभ्यास-प्रदर्शन सामान्य चलन में है। ‘भारत माता की जय’ सदृश उच्चार/उद्भास राष्ट्रवादिता के प्रदर्शन के लिटमस-पेपर तो हैं ही, वहीं वे राष्ट्रवाद की शक्ति के परिचायक भी हैं और राष्ट्रवाद के शक्ति-प्रदाता भी। इस तरह ‘भारत माता की जय’ से इनकार को राष्ट्रवाद से प्रकारान्तरतः भारतीय राष्ट्रिकता से और भारतीयता से स्वयम् के भारतीय होने के न-कार के रूप में लिया जाना चाहिए। विधिक रूप में ऐसे न-कार भारतीय दंड संहिता के अनुच्छेद 124-ए के अन्तर्गत राजद्रोह भले न हों, वे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51-क का आपराधिक अराष्ट्रीय उल्लंघन अवश्य हैं।

तेनेव, उपर्युक्त आलोक में ‘भारत माता की जय’ के न-कार में ध्वनित अराष्ट्रवाद को वर्तमान में हमारे देश में पनपती अराष्ट्रीयता की दुन्दुभि मानते हुए अराष्ट्रवादी शक्तियों के उन्मीलन और सममनस्क राष्ट्र की संस्थापना हेतु भारत माता की जय से परहेज का निवारण अपरिहार्य है।

लोक जगत में जगतीकरण की सेंध

डॉ. श्यामबाबू शर्मा*

‘पीछे लागा जाइ था लोक वेद के साथ’¹

महात्मा कबीर की स्पष्ट घोषणा है कि वे वेदों, धर्म ग्रंथों और पोथियों को यह महत्व नहीं देते जो लोक से प्राप्त ज्ञान को। और यह उनका लोकवेद सर्वोपरि। लोक के प्रवाह में जो सहज निर्मलता और ताजगी होती है वह अनायास उसकी भाषा, साहित्य और लोक को भी प्राप्त होती है। मानव के उन्नयन और उसके गरिमापूर्ण जीवन की चरितार्थता में उसकी भूमिका निर्विवाद है। वेद-पुराण और स्मृति ग्रंथों की दुहाई देने वाले बाबा तुलसी भी वेद मत के साथ लोक मत को समादर स्थान देते हैं। चित्रकूट की महासभा में विद्वान पंडित, राजनीतिज्ञ, माताएं और अयोध्या का जनमानस राम को वापस चलने की प्रार्थना अपने-अपने तरीकों से करता है परंतु...‘राम ते अधिक राम कर नामू’। पिता की आज्ञा का उल्लंघन...? भरत की भ्रातृभक्ति एवं उनके चरम त्याग के वशीभूत मुनि वशिष्ठ को उनके अयोध्या वापस लौटने के लिए वेदों के दर्शन के साथ साधुमत और लोकमत के अनुसरण का परामर्श देना पड़ता है—

भरत बिन्य सादर सुनिअ करिअ विचारु बहोरि

करब साधुमत लोकमत नृपनय निचोरि॥²

इतना आदरणीय सम्माननीय हमारा यह लोक, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना की गंगोत्री सदृश निस्सदेह आज नाना प्रदूषणों, अपवर्जकों और जहरीले आयातित रसायनों से ग्रस्त होता जा रहा है। भोगवाद के अंधानुकरण से अपवित्र लोक के अनेक स्रोतों में अर्थ केंद्रीयता की भूमिका पर विचार करना सामयिक संदर्भ बन चुका है।

‘लोक आनंदाः च मोदाः च मुदाः च मुदः प्रमुदः आसते। (ऋग्वेद 9वाँ मंडल-7,9,11); आनंद मोद और प्रमुद की आप्त मनः अवस्थाओं में लोक की विद्यमानता है। ‘लोक’ शब्द एक विराट समाज की ओर संकेत करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह लोक परिष्कृत होता है और स्वाभाविक जीवन

* डॉ. श्यामबाबू शर्मा, एकेडमिक काउसिलर, इग्नू, शिलांग; पता: 85/1, अंजलि काम्पलेक्स, शिलांग-793001(मेघालय), मो. 9863531572.

जीते हुए श्रम के बलबूते उत्पादन करता हुआ दूसरों का भरण-पोषण करता है। इसका सीधा संबंध जीवन से है। प्रकृति और परिवेश से ही उर्वर जुझारूपन और शक्ति ग्रहण करता मांगलिक परिवेश का निर्माण करता है। जीवन को नश्वर मानते हुए भी यह उसे अन्यात्मक नहीं मानता।

कुछ वर्ष पूर्व ‘वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो’ की मांग के साथ असंतोष और आक्रोश की आग स्पेन, फ्रांस और ब्रिटेन होती हुई पूँजीवाद के गढ़ अमेरिका तक जा पहुँची। ‘वॉल स्ट्रीट’ अर्थात् दुनिया का सबसे मशहूर और ताकतवर शेयर बाजार। तीसरी दुनिया के देशों में भी अपने-अपने ढंग से इसके पर्यायों पर निशाना साधा गया। इसके पहले भी भूमंडलीकरण के विरोध में आंदोलन होते रहे हैं परंतु उनमें शामिल लोग आदर्शवादी या अराजकतावादी के रूप में पहचाने गये। जोड़-घटाना यह कि जिन आर्थिक नीतियों के चलते वह अपना डंका पीटे जा रहा था वे ही सुमधुर व बजाय कनफोड़-विस्फोटक हो गईं। लेकिन तान तो छिड़ चुकी है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गुनगुना ही नहीं रही बल्कि जबरदस्त ब्रेक डांस कर रही है। क्या भवन-भाषा और क्या भूषा-भोजन, भजन तक इसकी गिरफ्त में। एक ‘ग्लोबल पावर स्ट्रक्चर’ हमारी अभ्यस्त जीवन शैलियों को पूरी तरह बदलने की तैयारी कर रहा है। बिना रक्तपात और रोक-टोक के लूट का दूसरा नाम है—भूमंडलीकरण। यह छीना-झपटी मात्र भौतिक सुख संपदा और मानवीय संसाधनों तक सीमित रहती तो कदाचित भरपाई करना सहज होता परंतु यह बेशकीमती लोक को भी खाये जाती है। सांस्कृतिक वैविध्य का विरोधी यह दर्शन हमारी लोकसंस्कृति को दुर्बल करता जा रहा है। इसने संवेदनशीलता और लोक के विचारों का रकवा कम किया है, अपने गृह की सुध से परे। ‘पर’ का आयतन ‘स्व’ की संकीर्णता में। सांस्कृतिक तहस-नहस को इसने एक सुंदर खेल बना दिया है। विकास का ढांगी। मनुष्य एक को प्रोडक्ट और कंज्यूमरमें तब्दील करने वाला बहुरूपिया एक तरह का नव उपनिवेशवाद ही है। यह अपना विजय रथ मीडिया, बाजार, विश्व बैंक तथा डब्ल्यू.टी.ओ. आदि अस्ट्रो-दिव्यास्त्रों का संधान करते आगे बढ़ा रहा है।

पूँजी के शातिराना दर्शन के विश्वग्राम की बेहद आकर्षक झाँकी है। विचित्र यह कि—भाई नवीन वसुधैव कुटुंबकम् की यही अवधारणा है। इतनी गहरी साजिश हमारी सम्यता-संस्कृति सह रही है, ज्ञेत रही है। उदारमना सहदयों के लिए तो यह संपूर्ण वसुंधरा ही परिवार है। उदारवादी चिंतकों ने इसको अपनी सुविधानुसार अपने पाले के फायदों के लिए रीडिफाइन कर लिया और परिणाम? संस्कृतियों का समन्वय वसुधैव कुटुंबकम और इनका सामरिक-वैचारिक दासत्व ही भूमंडलीकरण है। कहां चूके हम कि पंचमकार (भवन, भाषा, भूषा, भोजन और भजन) के अधुनात्मन बज्रयानी साधक बन गये। रेव की वेब्स ने चिंतन और वैचारिकता को काट-छांटकर चिप में लाकर ही संतोष नहीं किया, सेल्फी बना दिया। यात्रा जारी है। जूठन को एडवांस की संज्ञा देने वाले....विद्वजनों को दंडवत! उदारीकरण से आई उस उधारीय उधारीय संस्कृति को सैल्यूट जिससे हम मॉर्डन कहलाए। बाहर से चकाचक, अंदर से स्खलित। सबकुछ...शेष।

नीली रोशनियों की बांहों में नववधू सी मुस्कराती बाजार का समय है यह और तमाम प्रतिभाएं इसकी चाकर-आशिक। हडपो, झपटो और डपटो नवीन लोक के प्रस्थान बिंदु है। हमारे घरों की सीढ़ियां सड़क तक आ गई हैं और लिप्साएं अपराध तक ये क्या कम प्रगति है! नव वज्रयानी साधक ग्लोबल विलेज की चौखट पर जाप करने पर आमादा हैं। अब हम जीते हैं तो केवल बाजार के लिए और चाहते हैं तो केवल समृद्धि। हमारा, मूल्यगत पराभव और सांस्कृतिक अस्मिता का लोप इस करदर कि अब हमें याद दिलाया जाता है कि आज मदर्स डे है, फादर्स डे। नवीन त्यौहार नवीन रूपों में। कंपनियां मॉलामॉल-विश कीजिए। उसके एक दिन पहले ही संदेशा कि ‘ऑल कॉल्स एंड एस. एम.एस. विल बी चार्ज ऐज पर बेस टैरिफ ऑन एकाउंट ऑफ ब्लैक डे’। हमें मां की, पिता की याद दिलाने वाले इतने हितैषी-किसके हमारे या अपने? याद कीजिए कि कभी हमने अपने माता-पिता को यह कहते पाया हो कि मैं तुम्हें...। बच्चों के सामने पूरी मर्यादा होती थी। पीढ़ी परिवर्तन ऐसा कि अब उन्हें प्रायः आंखों की ओट लेनी पड़ जाती है। औपचारिकताओं का अट्रट्हास कि पति-पत्नी के पवित्र रिश्तों में भी गिफ्ट्रस का आदान-प्रदान। सवाल कर दिए जाते हैं कि यह संस्करणों का प्रकटीकरण है तो ऐसे उधारीय संस्करणों को दूर से ही साष्टांग नमस्कार। बचपन में हमारे बाबा-दादा बताया करते थे कि फलां से खेत-खलिहान के झगड़े के चलते बात-व्यवहार बंद था। कभी उनके सबसे पूज्य रिश्तेदार का आगमन हुआ। वे घरभूत गए और चौधारि में बैठे बाबा से पूछा-बात-बतकही में मालूम पड़ा कि ये तो उनके दामाद जी हैं। तुरंत हांक लगाई गई कि नातेदार आए हैं। शरबत पानी आता और घर के किसी बच्चे को आदेश दे दिया जाता कि ‘भइया को उन बाबा के दुवारे पहुंचा। आओ-सादर। यह दामाद पूरे गांव का दामाद होता था। आपसी खींच-तान अपनी जगह और सामाजिक व्यवहार अपने स्थान पर। पड़ोसी की बिटिया विवाह योग्य होती तो चिंता होती कि सुयोग्य वर तलाशना है। कहीं पता चलता तो—भइया देख लिया जाय। यह सब आज शायद कहानीनुमा लग रहा हो परंतु कुछ दिन पहले यही हमारी समृद्धता थी। समृद्ध लोक। अब हमें अपनी खबर नहीं, पड़ोसी तक कैसे पहुंचे?

उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद के कारण जिस तरह सांस्कृतिक, सामाजिक, पारिवारिक मूल्यों का क्षण हो रहा है उसका मुकाबला साहित्य की प्राचीनतम विधा बखूबी कररही है। नेम, फेम और मनी का जो जुनून इसान पर सवार है उसमें एक दूसरे की खैरियत जानने का रुटीन गायब है। इतना एकाकीपन कि—

बाबा को जानता था सारा शहर
पिता को भी चार मोहल्ले के लोग जानते थे
मुझे नहीं जानता मेरा पड़ोसी मेरे नाम से
अब सिर्फ एलबम में रहते हैं
परिवार के लोग एक साथ
टूटने की इस प्रक्रिया में क्या-क्या टूटा है
कोई नहीं सोचता³

अब छार नहीं, मकान हैं। बस्तियां नहीं बसतीं। सीमेंट के जंगल हैं और उनमें लाशों के झुरमुट। श्रीकांत वार्मा ने बहुत पहले इस छीजते लोक जीवन पर चिंता व्यक्त कीथी। कृत्रिमता और बनावट की बुनावटों में उलझा जन निस्तेज हाँफ रहा है। सब कुछ इतना पास-पास परंतु—

इतने मकान पास-पास सटे-सटे
मगर प्रेम नहीं
इतना धनत्व
इतनी संकुलता
इतनी एकता
मगर सभी कटे-कटे
सहमति नहीं, भाषा नहीं, प्रस्ताव नहीं
एकसाथ उठी हुई मुट्ठियां नहीं
केवल क्रोच-चीख
इतनी समीपता
इतना नैकट्य
इतना सहवास
किंतु स्पर्श में
पुलक नहीं⁴

मुँह उतरे हुए हैं और विश्वयारीकी लगाम से हांकते हुए आयातित संस्कृति से कोड़ा कासने की कोशिशें तेज हैं। भारतेंदुजी ने कहा था कि परदेशी माल और पदरेशी वस्तु (विचार) पर भरोसा मत करो लेकिन हम हउसे-फउसे इसकी ओर हपटे जा रहे हैं। ‘जहां देखी तवा परात वहां बिताई सारी रात।’ बाजारवाद के कसते शिकंजे तथा समरूपीकरण के चलते पूरी दुनिया में सांस्कृतिक विविधता के विरुद्ध समानता का प्रचलन प्रयास लगता है, विश्व बाजार। व्याख्याओं का अधिकार इसके पास है और लोकप्रियता का अचूक, अति आकर्षक जगत। इस नितांत बनावटी नवीन लोक में मनुष्य के रन्ध-रन्ध को संक्रमित करने का मधुर रसायन है। रचनात्मकता और कला के तमाम रूप सिकुड़ते जा रहे हैं। आत्मनिष्ठ, अकेले, संवेदनहीन, स्वार्थपरायणोन्मुख मनुष्य का सामाजिक थका-थका सा लगता है। कला में कीमत की बैलेंसशीट। पहले हम जरूरत पड़ने पर बाजार जाते थे अब बाजार दरवाजे...नहीं घर तक घुस गया है। किलक करें डिलिवरी लें फिर विचार कि प्रोडक्ट का यूज कैसे, क्यों, कब, कहां? लोक को मिट्टी से उखाड़ा दिया है इसने। आयातित इत्र छिड़कर मदहोश करने का इंतजाम। हमारा अपना बासी इनका फटाफट वाला फास्ट फूड। हमारे कुएं, चापाकल दूषित रसायनों के भंडार, पैकड बाटल्ड हाइजीनिक! पारंपरिक पिछड़े, संस्कारों का श्राद्ध करने वाले एडवांस! अष्टभुजा शुक्ल की पंक्तियां याद आ रही हैं—

एक हाथ में पेस्सी कोला
दूजे में कंडोम

तीजे में रमपुरिया चाकू
 चौथे में हरि ओम
 कितना ललित ललाम यार है
 भारत घोड़े पर सवार है
 एइस और समलैंगिकता की
 रहे सलामत जोड़ी
 विश्व ग्राम की समता में
 हमने सीमाएं तोड़ीं⁵

घर्षण, मिथ्रण और प्रदूषण के इस दौर में जीवन को शांति और संबल देने वाली लोकविधाओं का अनुसरण करने वाला ‘पिछड़ा’ है। बाजार के सेठों ने इसे अपने ढांग से विज्ञापित किया। मुठभेड़ के बजाय मार्गांतरीकरण का बढ़िया विकल्प चुना गया। उन्होंने लोक के सहज स्वाभाविक उन्मेष को गलोबल हाइ में प्रदर्शनीय बिक्री के एक माल के रूप में बदल दिया जिसकी रचना समूह से इतर भीड़ के आनंदोल्लास के लिए की जाने लगी। लोक पूँजी के क्षत-विक्षत दागों से कषाय होने लगा। वावजूद इसके कहा जाता रहा ...’ दाम अच्छे हैं।’ सार संक्षेप यह कि लोक का औद्योगीकरण फल-फूल रहा है। इसकी कलमें मधुर हैं, सुस्वादु हैं। यह दीगर कि इसके साइड इफेक्ट्स ऐसे कि सभ्य समाज उच्चारण नहीं करना चाहता।

प्लूटो की राय थी कि वस्तुगत रूप से अपने आंतरिक चरित्र में जो चीज सच नहीं है वह मनुष्य के लिए आत्मगत रूप से अच्छी और सच्ची नहीं हो सकती। नग्न स्वार्थ के हृदय शून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और दूसरे संबंधों, सरोकारों का स्पेस कम होना आश्चर्य पैदा नहीं करते। सामूहिकता के हास, विशेषीकरण के प्रभ्युदय और जीवन के पक्षों के अंतरावलंबन के बदलते स्वरूपों ने लोक कला के प्रकार्यों के लिए प्रकार प्रकट किए। सामाजिक सुखों, दुखों को अभिव्यक्त करने वाले विविध पक्षों यथा लोक-नाट्य, लोकनृत्य और लोकगीत को चटख रासायनिक रंगों में सराबोर कर प्रस्तुत किया गया। अब अम्मा के सोहर, लाचारी, गारी उन्हीं के साथ विदा हो गए लगते थे। बिरहा, पचरा, कत्थक, नकटउरा, जात्रा, ललित, नौटंकी तथा बहुरूपिया, रामलीला, भड़ैती, कठपुतलियां कहां खो गई? प्रदर्शनकारी कला या परफार्मिंग आर्ट के समय में हमें दर्शक बनाए रखने के लिए मल्टीप्लेक्स हैं, फार्मूला वन की रेसें हैं, हिंसक पहलवानी के बाहुबलियों का पराक्रम-प्रदर्शन है। भकुआई नजरों से हम इनकी भाटगीरी करते नहीं थक रहे। कुरुचि में रुचि का रसास्वदन! विचलन और उबकाई तक को कैश कराने की कोशिशें—

अम्मा अब तो दुख
 बाजार में बिकता है
 दुख के खरीददार भी बहुत हो गए आजकल
 बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी तक ले जाते हैं

और जिन्हें

सब कुछ खरीदने कीआदत
छुटपन से ही पड़ी हुई है
उसको पहले वे खरीदते हैं
फिर थोड़ा काट-छांटकर
रंग रोगन से उसकी चुभती सी आकृति को
दर्शनीय मुद्रा देते हैं⁶

माता के परसे की, मध्य के बरसे की महक...कहां है? जीने की सारी कवायदें
टेरर मार्केट के विलास में। हम परजीवी और वे वैम्पायर। बड़ा लुटेरा समय है—

छीन लिया है इसने
बच्चे के खिलौने और मासूमियत
दादी की लोरियां और किस्से
उत्सवों का उल्लास
स्नेहीजनों का हास-परिहास⁷

जीवन के तमाम व्यापार उग्र से उग्रतर होते जा रहे हैं। वाल्टर बेंजामिन न कहा
था कि बर्बरता का इतिहास संस्कृति में नई खोज के लिए जमीन तैयार करता है।
हमने पूजा को प्रतिमा से, प्रतिमा को पंडाल से, पंडाल को बिजुरिया चकाचौंथ से,
चकाचौंथ को अश्लील गीतों से, गीतों को कनफोड़ संगीत से, संगीत को भौंड़ नाच
से, नाच को छिठोरी फब्तियों से, अपमानित किया है। हमारे दशहरे, होलियों ईद,
मुहर्रम, वैशाखियों और दीवालियों पर क्रूरतम प्रहर जारी है। मीडिया तुरही तान देकर
इसका पथ प्रशस्त करने वाला सावित हुआ है। बटोरने का संस्कार आज के लोक का
लोकाचार बनता जा रहा है।

मनुष्य और प्रकृति परिवर्तनशील हैं इसलिए हम यह आशा कर सकते हैं कि
हवस और आत्मकेंद्रित लोक की बर्बरता से हम मानवीय, परोपकारोन्मुख उदात्त लोक
की ओर वापस लौटेंगे।

संदर्भ

1. कवीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 255
2. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, अयोध्या कांड, दोहा-268
3. दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. 55
4. माया दर्पण, श्रीकांत वर्मा, पृ.64
5. दुर्स्वप्न भी आते हैं, अष्टभुजा शुक्ल, पृ. 77
6. अम्मा से बातें औरकुछ लंबीकविताएं, भगवत राव, पृ. 52
7. बाघ दुहने का कौशल, रमण कुमार सिंह, पृ. 31

डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों में सामाजिक मूल्य

सेराज अहमद अंसारी*

‘मूल्य’ का शाब्दिक अर्थ दाम, कीमत इत्यादि होता है और क्रय-विक्रय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। दूसरे अर्थ में समाज के द्वारा बनाए गए उन मानदंडों का उल्लेख है जिसके विकास से बेहतर समाज का निर्माण किया जाता है। इस शोध-पत्र में दूसरे अर्थ की उपयोगिता सार्थक है। मूल्य एक व्यवस्था है जिसके बिना किसी देश, वर्ग, जाति, धर्म, अथवा व्यक्ति के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है।

‘मूल्य’ किसी एक शब्द में निरूपित नहीं होता, यथा समय इसका रूप परिवर्तित होता रहता है। उदहारण के लिए, अगर केवल व्यक्ति विशेष को ले लिया जाए तो गतिविधियों के अनुसार उसके मूल्य में परिवर्तन होता है। सामाजिक, राजनीतिक, व्यावसायिक, धार्मिक इत्यादि मूल्यों के व्यवहार में भिन्नता होती है।

‘मूल्य’ का जीवन और जीवन का साहित्य से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य को उर्दू में ‘अदब’ कहते हैं जिसके स्वयं अर्थ में ही मूल्य समाहित है। उपन्यास साहित्य का अभिन्न अंग है। उर्दू उपन्यासों के इतिहास का आरम्भ डिप्टी नज़ीर अहमद के उपन्यासों से होता है। डिप्टी साहब ने न केवल उपन्यास लिखने बल्कि उसके द्वारा मूल्यों को समाज में फैलाने का भी कार्य किया है।

नज़ीर अहमद ने सात उपन्यास लिखे – ‘मिरातुल ओरस्स’, ‘बनातुन नअश’, ‘तौबतुन नोसूह’, ‘फसानाए मुब्लाता’, ‘इब्नुल वक्त’, ‘रुयाए, सादेका’, और ‘अयामी’।

डिप्टी साहब ने जब लिखना शुरू किया था, पहली जर्ंगे आज़ादी के बाद का समय था। भारतीय फौज हार चुकी थी और अँग्रेज़ों का वर्चस्व सम्पूर्ण रूप से यहाँ के लोगों पर कायम हो गया था। उनका दुष्प्रभाव सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक,

*उर्दू विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, मो. न. 8332855410, 8484080671;
e-mail: serajahmadnsr70@gmail.com

धार्मिक, व्यावसायिक, विद्या के क्षेत्र इत्यादि हर तरह के विभागों पर पड़ा। उपनिवेशवाद हावी हो गया था। हिन्दुस्तानियों में आत्मविश्वास, दृढ़निश्चय, एक-दूसरे के प्रति सम्मान एवं जीने का हौसला समाप्त होने लगा था। अन्धविश्वास, भ्रूणहत्या, अशिक्षा एवं अराजकता बढ़ने लगी थी। ऐसे में बुद्धिजीवी वर्ग को ये समझना बहुत मुश्किल हो गया था कि समाज में फैली विसंगतियों का उपचार कैसे किया जाए।

युद्ध के बाद बहुत से ऐसे बुद्धिजीवियों ने जन्म लिया जिन्होंने न केवल समाज में चेतना पैदा की बल्कि आज़ादी की भूमि भी तैयार की। उनमें एक नाम मौलवी नज़ीर अहमद का है। मौलवी साहब का जन्म 1836 ई. में यूपी के ज़िला विजनौर में हुआ। शिक्षा-दीक्षा के लिए अपने गुरु मौलवी अब्दुल खालिक के साथ दिल्ली चले आए। दिल्ली कॉलेज से पढ़ाई पूर्ण होने के बाद नज़ीर अहमद पंजाब में डिप्टी इंस्पेक्टर बना दिए गए। तरक़ी पाकर तहसीलदार फिर ऑफिसर नियुक्त किए गए। कुछ दिनों बाद सालारज़ंग प्रथम ने हैदराबाद बुला लिया, मेहनत, ईमानदारी और लगन को देखकर मालगोदाम का अध्यक्ष बना दिया। उसकी मृत्यु के बाद मौलवी साहब दिल्ली चले आए और अपना सारा जीवन पठन-पाठन और सामाजिक कार्य में व्यतीत किया। 1897 ई. में उन्हें ‘शमशुल ओलमा’ की उपाधि मिली और 1902 ई. में एडेबरा यूनिवर्सिटी से L.L.D. की मानद उपाधि से नवाज़ा गया। 1912 ई. में मौलवी साहब इस दार-ए-फानी से कूच कर गए।

मौलवी साहब बहुत-सी किताबों के लेखक हैं, लेकिन उनकी ख्याति का मूल कारण उनके उपन्यास हैं जो मूल्यों से भरे पड़े हैं। उन्होंने अपना प्रथम उपन्यास ‘मिरातुल ओरूस’ 1869 ई. में लिखा। इसका शाब्दिक अर्थ ‘दुल्हन का आईना’ है जो लड़कियों की शिक्षा और उनके हुनरमन्द होने पर आधारित है। इसमें असगरी और अकबरी दो लड़कियों की कहानी प्रस्तुत की गई है, जिसमें एक को काविल, बुद्धिमान, पढ़ी-लिखी, समझदार, दूरन्देश और दूसरी को कामचोर, अनपढ़, जाहिल, घमंडी और मूर्ख दिखाया गया है। एक अपनी जेहालत से अच्छी-भली जिन्दगी नष्ट कर लेती है और दूसरी अपनी बुद्धिमानी से कमज़ोर और ग़रीब घर को इस तरह सजाती और सँवारती है कि घर की खोई हुई मर्यादा वापस आ जाती है।

इस उपन्यास में दो स्त्रियों की स्थिति दिखाकर पाठक का ध्यान मूल्यों की तरफ आकर्षित किया गया है। मौलवी साहब ने उन मूल्यों को प्रस्तुत किया है जिनके न पालन करने से एक का जीवन नर्क और दूसरी का स्वर्ग बन जाता है। मैंने पहले ही कहा था कि मूल्य, समय और व्यक्ति प्रधान होता है। उस समय लड़कियों के लिए जिन मूल्यों की ज्यादा ज़्यातर थी वह तालीम और घर-गृहस्थी से सम्बन्धित थीं। असगरी के पिता उसे एक पत्र लिखते हैं जिसमें ससुराल में अच्छा जीवन व्यतीत करने के मूल्य बयान किए गए हैं :

‘बाज़ बहुएँ इस तरह की मगरूर होती हैं कि ससुराल में कैसा ही अच्छा खाना और कैसा ही अच्छा कपड़ा उनको मिले हमेशा हिकारत से देखती हैं। ऐसी बातों से मियाँ की दिलशिकनी होती है। असग़री तुमको इसका बहुत एक्सेयात चाहिए। ससुराल की हर एक चीज़ क़ाबिल-ए-कद्र है और तुम को हमेशा खाना खाकर और कपड़े पहनकर बशाशत ज़ाहिर करनी चाहिए।...दुल्हन को इस बात का ख्याल भी ज़रूर रखना चाहिए कि ससुराल में बे-दिली से न रहे।...ज्यादा मैके का शौक ज़ाहिर करना ससुराल वालों को ज़रूर नापसन्द होता है।

गुप्तगृह में दर्जा ओस्ट मल्हूज़ रहे यानी न इतनी बहुत कि खुद-ब-खुद बक बक, न इतनी कम कि मगरूर समझा जाए। बहुत बकने का अंजाम बुरा होता है।...छोटों पर मेहरबानी और बड़ों का अदब हर दिल अज़ीज़ होने के बास्ते बड़ी उम्दा तदबीर है। अपना कोई काम दूसरों के ज़िम्मे नहीं रखना चाहिए और अपनी किसी चीज़ को बे-ख़बरी से न पड़ा रहने दो कि दूसरे उसको उठा लेंगे। जब दो आदमी चुपके चुपके आपस में बातें करें, उनसे अलाहिदा हो जाना चाहिए। फिर उनकी तफ्तीश भी मत करो कि ये आपस में क्या कहते थे और खामखाह ये भी मत समझो कि कुछ हमारा तज्जरा था।’’¹

उक्त मूल्यों को मौलवी साहब ने लड़कियों के लिए लिखा है, लेकिन अगर ध्यान से देखा जाए तो ये किसी के भी जीवन का हिस्सा हो सकते हैं।

मौलवी साहब का दूसरा उपन्यास ‘बनातुन नअश’ है जिसे ‘मिरातुल ओरूस’ का विस्तार माना जाता है। इसमें उस लड़की का उल्लेख है जो अमीरज़ादी है और एक ही धर्म की दूसरी जाति की लड़कियों को हेकारत की दृष्टि से देखती है। असग़री जो पहले उपन्यास की नायिका है इस तरह के मूल्यों का ज्ञान देती है कि शादी होने तक उसकी अधिकतर खामियाँ दूर हो जाती हैं। मौलवी साहब ने सामाजिक मूल्यों को इस तरह कहानी में पिरोया है कि वह कहानियाँ आज भी लड़कियों को अपने हुस्न-ओ- सोलूक को सँवारने का बेहतरीन जरिया बन गई हैं। हुस्नआरा मुसलमानों में अशराफ़ घराने और शहर की रहने वाली, लाड़-प्यार से पली बड़ी लड़की है। उसे असग़री के मकतब में लाया जाता है तो वह दूसरी लड़कियों से नफरत करती है, लेकिन जब अपनी पढ़ाई समाप्त करती है असग़री की बताई मूल्यों को धारण कर एक सलीका मन्द लड़की हो चुकी होती है।

नज़ीर अहमद ने जिन मूल्यों को अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है वे ज़िन्दगी और समाज के हर शोबे को प्रकाशित करते हैं। आम तौर से आज के ज़माने में ऐसा आदमी बड़ी आसानी से मिला जाएगा जो दो लोगों या परिवार को आपस में लड़ाकर काफ़ी खुश होता है, लेकिन मौलवी साहब के उपन्यास की एक पात्र महमूदा कहती है :

‘ऐसी भी कोई कम्बख्त होगी जिस को दो आदमियों की लड़ाई में मज़ा मिलता होगा? आदमी तो आदमी जानवरों को लड़ाना भी बड़ा गुनाह लिखा है’² (pg 122, Banatun naash, pdf, Iqbal cyber library)

मौलवी साहब चूंके मज़हबी आदमी थे, इसलिए उनकी लिखावट पर इसका साफ़ प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिन मूल्यों को उन्होंने अपने उपन्यासों में समाहित किया है वे इस्लामिक प्रिंसिपल्स से उदृत हैं। उनका तीसरा उपन्यास ‘तौबतुन नोसूह’ है। ये एक ऐसे मनुष्य की कहानी है जिसको बचपन से शादी और फिर लड़के-बच्चे होने तक मज़हब का ध्यान नहीं आता। एक दिन वह हैज़ा की बीमारी में मुक्तला होता है और जब ठीक होता है तो इस तरह परिवर्तित होता है कि परिवार के सारे लोग आश्वर्यचकित हो जाते हैं। वह सभी को मज़हब पर चलने और नमाज़ पढ़ने की दीक्षा देने लगता है। पत्नी, लड़कियाँ और छोटा लड़का बड़ी आसानी से पिता की बातों को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन बड़ा लड़का अस्वीकार कर देता है। जिस तरह पहले दो उपन्यासों में मौलवी साहब ने लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा की बात की है इसमें लड़कों को नेक और आज्ञाकारी होने की नसीहत की है। मुख्य पात्र कलीम है जो नोसूह का बड़ा बेटा है। वह पिता की आज्ञा मानने को तैयार नहीं होता।

जिस तरह के मूल्यों की आशा आज पिता अपने पुत्र से करता है वह उस समय भिन्न थी। काबिल और कामयाब होने की परिभाषा अलग थी। उस समय ज्ञान नौकरी मात्र का साधन नहीं था। इस उपन्यास में जिन मूल्यों का उल्लेख है वे सामाजिक हैं, जिनसे लोगों में सद्भाव बना रहता है। एक उद्धरण प्रस्तुत है—

“बेटा : अगर आप मुझको इसका सबब बयान करने से मआफ़ रखते तो बेहतर था।

बाप : नहीं ज़रूर है कि मैं तुम्हारे न जाने का सबब मालूम करूँ?

बेटा : इसमें एक शख्स की शिकायत होगी और हज़रात वी ने मुझको गीबत और चुग्ली की ममानियत की है।” (पेज : 68, तौबतुन नोसूह, डिप्टी नज़ीर अहमद)

उक्त उद्धरण में जिस चुग्ली और गीबत की बात की गई है वह समाज में फैलती बुराई की एक जड़ है। इसके अतिरिक्त मौलवी साहब ने चार और उपन्यास लिखे जो अलग-अलग विषयों और मूल्यों पर आधारित हैं। ‘फसानाए मुक्तला’ में मुसलमानों की बिगड़ी हुई स्थिति पर दृष्टि डाली गई है। इसमें उन्होंने यह बताने की कोशिश की है कि बाप-दादा की कमाई-इज़्ज़त पर इतराने से ज्यादा स्वयं मेहनत करना ज्यादा अच्छा है। ये उपन्यास ऐसे समय में लिखा जा रहा था जब 1857 की जंग की पराजय के बाद मुसलमानों की जागीरें छिन रही थीं, लोग असहाय थे, मुल्क में जहाँ-जहाँ मुसलमानों की हुकूमत थी वहाँ जुल्म-ओ-जब्र के पहाड़ तोड़े जा रहे थे। अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान मुसलमानों से हासिल किया था इसलिए उन्हें महसूस होता था कि उनके असल दुश्मन यही लोग हैं। ऐसे हालात में अपने उन पूर्वजों जिनके हाथ में

मुल्क की बागडोर लगभग एक हज़ार साल तक रही, का गुणगान करना स्वाभाविक है। इस तरह समाज में ऐसे लोगों की संख्या ज्यादा हो गई थी जो मेहनत-ओ-मुश्किल करने के बजाय अपने बुजुर्गों की बहादुरी के क़सीदे पढ़ने में मशगूल थे। मुब्तला एक ऐसा पात्र है जो खुद कुछ नहीं करता, लेकिन पूर्वजों की प्रशंसा करना नहीं भूलता। पिता बचपन में ही स्वर्गवासी हो गए, पत्नी का भी हाल कुछ उसी के मिजाज से मिलता-जुलता था। इसके बाद दूसरी शादी एक तवाएफ से कर ली और दोनों बीवियों की चपकालस ने मुब्तला को मौत की नींद सुला दी। इस उपन्यास में मौलवी साहब ने अपनी बात कहने के लिए मीर तकी का सहारा लिया है जो एक मुस्तेह (सुधारक) की हैसियत रखता है।

मुब्तला और आरिफ के बीच वार्तालाप में इस्लामिक सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया गया है। ये बात बड़ी आसानी से कह दिया जाता है कि मुसलमान चार शादी कर सकता है और कभी-कभी तो इस तरह उस पर ज़ोर दिया जाता है जैसे चार शादी करना ही इस्लाम है, और अगर किसी ने नहीं किया तो वह गुनाहगार होगा। जब मुब्तला दूसरी शादी करना चाहता है तो आरिफ पूछता है, तुम किस बात को सनद मानकर ऐसा कदम उठा रहे हों, तो मुब्तला जवाब में कुरान का उद्हारण प्रस्तुत करता है। वह कहता है—

“मेरा क्या मक्कूर है कि आपको समझाऊँ मगर तादाद-ए-निकाह की सनद तो कुरान की वही एक मशहूर आयत है।” “व इन खिफ्तुम अल्ला तुक्सेतु फिल्यतामा फ़केहू मा ताब लकुम मिन नेसाये मसना व सोलास व रोबअ” आरिफ़, लेकिन उसी के आगे फ़रमाते हैं—“फ़ईन खिफ्तुम अल्ला तआलौ अफवह्तः” यानी अगर तुमको खौफ़ हो कि मुतअद्दिद बीवियों में बराबरी न कर सकोगे तो एक ही बीवी करो। इसी सूरह (There are 114 chapters in the Quran, according to Surah) और इसी पारे (according to para there are 30 chapters in the Quran) में और आगे चलकर “व लन तसतीऊ बैनन निसा ...यानी तुम बहुतेरा चाहो मगर तुमसे हो ही न सकेगा कि औरतों में बराबरी कर सको “पस सारे के सारे भी एक तरफ़ अब उन दोनों बातों को मिलाओ कि बराबर न कर सको तो एक करो” (फ़साना-ए-मुब्तला, pdf, डिप्टी नज़ीर अहमद, पेज : 83)

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार ये बात बड़ी जिम्मेदारी से कही जा सकती है कि मौलवी साहब ने अपने इस उपन्यास के जरिये लोगों में इस्लाम के सही सिद्धान्तों और मूल्यों को फैलाने का प्रयास किया है।

‘इन्दुल वक्त’ में एक ऐसे हिन्दुस्तानी मुसलमान का ज़िक्र है जिसकी सोच भीड़ से अलग थी। मुसलमानों को अपनी हुक्मत खोने का बहुत मलाल था। अँग्रेज़ों ने मुसलमानों से हुक्मत छीनी थी इसलिए अपना खुला दुश्मन मुसलमानों को समझते थे। लोग अँग्रेज़ी और अँग्रेज़ों का लिबास पहनना कुफ़ समझते थे। ऐसे हालात में

कोई ऐसा नहीं था जो दोनों के बीच की दूरी को कम कर सके। इस उपन्यास में इबुल वक्त एक ऐसा किरदार है जो नमाज, रोज़ा, ज़कात इत्यादि जैसे सभी इस्लामी अमल को पूरा करता है, लेकिन अँग्रेज़ी पढ़ना, अँग्रेज़ों के साथ उठना-बैठना और अँग्रेज़ी वस्त्र धारण करना गुनाह नहीं समझता है। दोनों कुरान-ओ-अहादीस के सिद्धान्तों और मूल्यों के आधार पर अपनी बहस को आगे बढ़ाते हैं। इबुल वक्त एक ऐसे कॉलेज का मंसूबा बनाता है जिसमें हर तरह की ज़बान और विषय पढ़ाया जा सके। उर्दू अदब के आलोचकों की राय है की मौलवी साहब ने सर सैयद को नज़र में रखकर अपने इस उपन्यास का ताना-बाना तैयार किया था।

‘रुयाप, सादेका’ में एक ही जाति के विभिन्न सम्प्रदायों को इकठ्ठा करने के मूल्यों को प्रस्तुत किया है। जिस समय में मौलवी साहब उपन्यास रचना कर रहे थे मुसलमानों में भी बहुत तेज़ी से साम्प्रदायिकता बढ़ रही थी। वहाबी, बैरलवी और देवबन्दी का झगड़ा शुरू हो गया था। हर कोई अपनी ढाई ईंट की मस्जिद बनाकर अलग इबादत करना चाहता था। उसके अनुसार उससे अच्छा और जन्ती मुसलमान हो ही नहीं सकता था और ये सिलसिला आज भी जारी व सारी है। ऐसी हालत में डिप्टी साहब ने इस्लामिक सिद्धान्तों और मूल्यों के ज़रिए लोगों में सदभाव और मुहब्बत पैदा करने की कोशिश की है।

‘अयामी’ उनका अन्तिम उपन्यास है जिसमें बेवा औरतों की दुबारा शादी की वकालत और उनकी इस्लाह की नसीहत की है। हिन्दुस्तानी समाज में फैले ग़लत परम्परा की वजह से बहुत से मुसलमान घरानों में भी तलाक शुदा या बेवा औरत की दुबारा शादी सही नहीं मानी जाती थी। ये बात समाज के बुद्धिजीवियों को बहुत खलती थी जिसका नतीजा ये हुआ की डिप्टी साहब को अयामी जैसा उपन्यास लिखना पड़ा।

मौलवी साहब ने जितने उपन्यास लिखे हैं सभी कम-ओ-बेश इस्म वा मुसम्मा (जैसा नाम वैसा काम) हैं। ‘मिरातुल ओरूस’ उनका पहला उपन्यास है जिसका अर्थ है ‘दुल्हन का जोड़ा’। इस उपन्यास में डिप्टी साहब ने ऐसी ही बातें पेश की हैं जिसका सम्बन्ध दुल्हन से है। ‘बनातुन-नअश’ का अर्थ ‘सात सितारों का झुमका’ है, इसमें एक घमंडी और जाहिल लड़की को ज्ञान और हुनर से सजाकर क़ाबिल और हुनरमन्द बनाया जाता है। इसी तरह मौलवी साहब के उपन्यास की ये खासियत है कि उनका पात्र अपने नाम के अनुसार कार्य करता हुआ नज़र आता है।

इसके अतिरिक्त डिप्टी साहब के उपन्यासों में ऐसे बहुत से सामाजिक मूल्य हैं जिनको धारण कर समाज को बेहतर और सुन्दर बनाया जा सकता है।

समीक्षा

जन्मभूमि से विदेश तक

श्रीरंजन सूरिदेव*

सद्यः प्रकाशित ‘सागर के आर-पार’ जैसी यात्रा-संस्मरणात्मक कृति एवं ‘जननी जन्मभूमिश्च’ जैसी आत्मचरित-गर्भित संस्मरणात्मक भ्रमण वृत्तात्मक कृति की प्रस्तुति द्वारा विदुषी लेखिका माधुरीनाथ ने हिन्दी के यात्रा-साहित्य को ततोऽधिक समृद्ध किया है। समृद्धि के साथ-साथ उसे वैविध्य-पूर्णता भी प्रदान की है।

माधुरीनाथ की इन कृतियों का मुख्य उद्देश्य उनकी अपनी जीवन-कथा का वर्णन है, जिनमें उन्होंने व्यापक रूप से अपनी जीवन-यात्रा की बात कही है, जो रमणीय और रुचिर भी है। साथ ही, इसमें उनके अपने जीवनेतिहास की उन विविध घटनाओं और परिस्थितियों का भी वर्णन सुन्दरता से रम्य-सुगम्य भाषा-शैली में उपस्थापित किया गया है, जिन्होंने लेखिका के जीवन को प्रभावित, संचालित और नियन्त्रित भी किया है।

लेखिका ने जो स्वयं देखा है या अनुभव किया है, उसी का अंकन किया है, इसलिए उनका यह आत्म-संस्मरण जितना विश्वसनीय है, उतना प्रामाणिक भी है। इस कृति का ‘सागर के आर-पार’ नाम भी सार्थक है; क्योंकि इस कृति की लेखिका ने स्वयं लिखा है कि ‘सागर के आर-पार के देशों में जाकर मैंने जो कुछ भी देखा, सुना और अनुभव किया, उन्हीं का संकलन यह पुस्तक है और यह मेरे अनुभवों का कोष-स्वरूप है, जिसे मैंने आत्मीय प्रियजनों को समर्पित किया है।’

लेखिका के भ्रमण के इच्छित सागर-पार के देशों में सिंगापुर के अलावा यूरोप के रोम, फ्लोरेन्स, पेरिस, टोरंटो, पटाया, बैंकॉक, थाईलैंड, रमादा आदि सम्मिलित हैं।

सांस्कृतिक मानसिकता के स्तर पर लेखिका ने विदेश के विभिन्न स्थानों की संस्कृति का विशद चिन्तन भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में किया है, और उसे ही इस

* डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, शुभेषणा, एम्सो फैक्टरी कैप्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट, संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पटना - 800006; मो. 09334493466

समीक्ष्य पुस्तकें : ‘जननी जन्मभूमिश्च’ तथा ‘सागर के आर-पार’, लेखिका : माधुरी नाथ

कृति के माध्यम से हिन्दी पाठकों के लिए उनकी देशाटन की अन्तःप्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने तथा विदेशी देशों के पर्यटन के प्रति उनके रुचि को जगाने का लेखिका का यह सारस्वत प्रयास जितना आशंसनीय है, उतना प्रशंसनीय भी है।

यथोक्त विदेशी देशों के भ्रमण के बाद लेखिका की मनोवृत्ति ने विदेशी देशों की संस्कृति को भारतीय संस्कृति की तुलना में उन्नत नहीं पाया, वरन् भारतीय संस्कृति को ही सर्वोन्नत अनुभव किया है। लेखिका ने लिखा भी है—घर वापस आने के बाद उन्हें अपना घर ही प्यारा लगा। ऐसा इसलिए हुआ कि लेखिका स्वयं भारतीय मिट्टी के जीवन्त विग्रह है, अतएव उन्हें यूरोपीय कृतिम संस्कृति अपने सहज-सुन्दर भारतीय संस्कृति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ नहीं लगा। इसी कुटु सत्य के अनुभव को लेखिका ने अपनी इस कमनीय कृति में आरेखित किया है।

कुल मिलाकर भारतीय संस्कृति की सहज विशिष्टता तथा विदेशी देशों की कृतिम जीवन-शैली की तुलनात्मक दृष्टि से किया गया यह अध्ययन अवश्य ही लोकप्रिय होगा, इसमें सन्देह नहीं।

इसी प्रकार, माधुरीनाथ की द्वितीय कृति ‘जननी जन्मभूमिश्च’ में मातृ-महिमा की श्रेण्यता समुद्रभावित हुई है। यद्यपि यह कृति भी संस्मरणात्मक यात्रावृत्त की ही मनोरम कृतियों में अन्यतम है, साथ इससे भी संस्मरण-साहित्य सातिशय समृद्ध हुआ है। इसमें लेखिका की निवास भूमि राँची से विभिन्न धर्म एवं संस्कृति-प्रधान नगरों, जैसे दिल्ली, जयपुर, धर्मशाला, ऊटी, मैसूर बँगलूरु, गोवा, वृन्दावन, आगरा, पुरी, देवघर : वैद्यनाथधाम, मनाली, वैष्णो देवी तक की यात्रा का रोचक वर्णन प्रसाद पूर्ण भाषा-शैली में प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार यात्राप्रिय या यायावरीय मनोवृत्ति की लेखिका ने अपनी यात्रा के क्रम में यात्रा के निमित्त स्वीकृत विभिन्न देशों में यथादृष्ट स्थिति के गुण और दोष दोनों का नीर-क्षीर न्याय से प्रत्यक्ष अनुभव करके उसे इन दोनों कृतियों में अक्षरित किया है। अतः उनका यह संस्मरण औपन्यासिक आस्वाद से संकलित है। साथ ही ये दोनों कृतियाँ संस्मरण-लेखन के क्षेत्र में प्रेरणादायी दिशा-निर्देशात्मक महत्त्व भी आयत्त करती हैं।

आशा है, माधुरीनाथ का यह यथोक्त यात्रावृत्त सारस्वत वाङ्मय तप के रूप में स्वाध्याय-प्रेरणी पाठकों द्वारा साग्रह समादृत होगा।

असम की बराक घाटी और हिन्दी

कस्तूरी चक्रवर्ती*

बराक घाटी एक नया नाम है, जो भारत स्वतन्त्र होने के बाद प्रचलन में आया है। स्वतन्त्रता से पहले असम में दो प्रधान नदियाँ थीं—ब्रह्मपुत्र और सुरमा। इन्हीं के आधार पर असम भू-भाग को भी दो नामों से जाना जाता था—ब्रह्मपुत्र घाटी और सुरमा घाटी। सुरमा घाटी में सिलहट और काछाड़ के जिले थे। आजादी, भारत को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान, दो टुकड़ों में बाँटकर मिली थी। इस बॉटवारे में सुरमा नदी सिलहट के साथ पूर्व पाकिस्तान में चली गई। सिलहट के चार थाने (जो हिन्दुस्तान के हिस्से में आए थे) काछाड़ में मिला दिए गए। कुछ दिनों तक ‘काछाड़’ नाम ही चलता रहा। धीरे-धीरे घाटी के कायम रखने के लिए ही—इस क्षेत्र की प्रधान नदी बराक के नाम पर ‘बराक घाटी’ नाम चल पड़ा। आज बराक घाटी के नाम से जाने-जाने वाले पूरे क्षेत्र में तीन जिले हैं—

(1) काछाड़, (2) करीमगंज और (3) हाइलाकन्दी।

1876 ई. में बैंकिमचन्द्र चटर्जी ने ‘बंगदर्शन’ में लिखा था—“हिन्दी शिक्षा ना कोरिले कोनों क्रमे ई चलिबे ना !” डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के शब्दों में—“हिन्दी एक महान् सम्पर्क साधक भाषा है !” नेताजी सुभाचन्द्र बोस ने कहा था—हिन्दी में वह गुण है जिससे देश क्या पूरे विश्व की भाषा बन सकती है। आजादी के बाद हमारे देश के नेताओं और महापुरुषों ने (महात्मा गांधी, विनोबा भावे, राजर्षि टंडन, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री आदि) हिन्दी के गौरव और महिमा को पहचाना, जिससे हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हो गई।

हिन्दी की इस सहज व्यापकता को विदेशियों ने भी पहचाना था। अँग्रेजों के जमाने में तो भारत-सेवा हेतु आने वाले प्रत्येक अँग्रेज को रोमन उर्दू के रूप में कम-से-कम तीन महीने तक हिन्दी सीखनी पड़ती थी। बोलचाल में हिन्दी का काम-चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही सेवा-स्थल पर भेजा जाता था। भारत में नवजागरण

* कस्तूरी चक्रवर्ती, हिन्दी विभागाध्यक्ष, कोकराजार गवर्मेंट कॉलेज, कोकराजार, असम

और स्वतन्त्रता की चेतना, प्रारम्भ काल से ही समूचे राष्ट्र को जानने और समझने के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। अखिल भारतीय कॉंग्रेस के 18 रचनात्मक कार्यक्रमों में एक कार्यक्रम हिन्दी प्रचार का भी रखा गया। सारे देश में औपचारिक रूप से हिन्दी का प्रचार-प्रसार कार्य चलने लगा और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत के संविधान में हिन्दी को भारत की ‘राजभाषा’ का दर्जा मिला।

बराक घाटी में आम जनता की बोलचाल की भाषा में पाए जाने वाले कई शब्दों के आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि हिन्दी, यहाँ अँग्रेजों के आने से पहले ही पहुँच चुकी थी। हाँ, अँग्रेजों के आने पर खासकर सन् 1854 में ‘चाय’ का आविष्कार होने के बाद हिन्दी भाषी श्रमिकों की काफी बड़ी जमात काछाड़ में प्रविष्ट हुई। अँग्रेजों के साथ कई सम्पन्न हिन्दीभाषा व्यवसायी परिवार भी आए, जिनके पृष्ठपोषण में, श्रमिक समान के सहयोग से काछाड़ में हिन्दी का एक रूप प्रचलित हुआ जो ‘बाबू हिन्दी’ के नाम से जाना गया। बाबू हिन्दी का यह रूप काछाड़ के चाय बागानों, बाजारों आदि में आज भी वर्तमान है।

सन् 1928 में राष्ट्रभाषा के रूप में औपचारिक हिन्दी के प्रचार के लिए उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के रहने वाले पंडित केदारनाथ त्रिपाठी सिलचर आये और अपने अध्यवसाय से ‘छोटेलाल हिन्दी पाठशाला’ नामक एक हिन्दी प्राथमिक विद्यालय की स्थापना की। सन् 1939 में केदारनाथ जी अस्वस्थ होकर बलिया वापस चले गए और फिर लौट नहीं पाए, क्योंकि उनका देहान्त हो गया।

पंडित केदारनाथ जी के गुजर जाने के बाद छोटेलाल हिन्दी पाठशाला की स्थिति डावाँडोल हो गई। सन् 1945 तक आते-आते वह टूटने के कगार पर पहुँच गई। यहाँ तक कि 19 जुलाई, सन् 1945 को पाठशाला की प्रबन्ध समिति में प्रस्ताव पारित करके शिक्षा का माध्यम बँगला कर दिया गया। कक्षा एक, दो और तीन में रोज एक घंटा हिन्दी पढ़ाने के लिए रखा गया। छोटेलाल हिन्दी पाठशाला की नींव बड़े ही शुभ मुहूर्त में रखी गई थी। शिक्षकों की लगन और उत्साह के बल पर एक साल के भीतर ही बँगला कक्षाओं के समान हिन्दी माध्यम की भी कक्षाएँ खुल गईं। सन् 1946 से आज तक छोटेलाल हिन्दी पाठशाला उसी रूप में (हिन्दी और बँगला के दो विभाग तथा हिन्दी में बँगला और बँगला में हिन्दी पढ़ाई) चल रही है।

सन् 1948 में असम के हिन्दी प्रचार को और सरकारी तौर पर ध्यान दिया गया। मुख्यमन्त्री स्वर्गीय गोपीनाथ बरदलै जी के प्रेरणा से सरकारी उच्च माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी के अध्यापक रखे गए। बराक घाटी के भी सिलचर, करीमगंज और हाइलाकान्दी के तीन सरकारी उच्च माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाने लगी। सन् 1952 में सरकार की ओर से चौथी से लेकर आठवीं कक्षा तक हिन्दी अनिवार्य

विषय बना दी गई। फलस्वरूप अन्य माध्यमिक विद्यालयों में भी हिन्दी अध्यापक और अध्यापिकाओं की नियुक्तियाँ होने लगीं।

प्रशिक्षण के लिए सिलचर नार्मल स्कूल और बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में हिन्दी अध्यापक नियुक्त किए गए। आज असम में हिन्दी शिक्षा की सरकारी शिक्षा नीति में कुछ परिवर्तन हो गया है, फिर भी बराक घाटी के प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में एक से लेकर तीन तक की संख्या में हिन्दी अध्यापक कार्यरत हैं।

सन् 1952 में ही बराक घाटी में हिन्दी शिक्षा और प्रचार-प्रसार को एक व्यवस्थित गति देने के मकसद से सिलचर में राष्ट्रभाषा-विद्यापीठ की स्थापना हुई। विद्यापीठ ने शुरू से ही हिन्दी के दोनों रूपों (शिक्षा का माध्यम और संविधान परिभाषित राष्ट्रभाषा) पर ध्यान दिया। राष्ट्रभाषा के रूप में असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति परिचालित परीक्षाओं के केन्द्र चलाए गए। शिक्षा के माध्यम के रूप में केन्द्र में एक प्राथमिक विद्यालय चलाने के अलावा दरवी, बद्रीवस्ती आदि कई जगहों पर और भी कई प्राथमिक विद्यालय खुलवाए गए। शिक्षा विभाग के सौजन्य से इन विद्यालयों में एक समान पाठ्य-पुस्तकों की पढ़ाई और प्रश्न-पत्रों से परीक्षा की व्यवस्था की गई थी। सन् 1961 में हिन्दी-विद्यालय संगठन समिति के गठन के बाद विद्यापीठ अपने परिसर में ही सीमित हो गया। सन् 1967 में विद्यापीठ के निजी विद्यान का पंजीकरण हुआ। एक स्वतन्त्र गैर-सरकारी शैक्षणिक संस्थान के रूप में राष्ट्रभाषा विद्यापीठ आगे बढ़ा।

सन् 1960 के आस-पास असम सरकार ने अपनी भाषानीति निर्धारित की। इस नीति के अनुसार असम के विद्यालयों में ‘असमिया’ सभी के लिए अनिवार्य विषय हो गई। अन्य भाषा-भाषियों को लगा कि उनको अपनी मातृभाषा सीखने के अधिकार से वंचित किया जा रहा है। यह भाषा आन्दोलन की शुरुआत थी। सभी वर्ग के लोगों में अपनी भाषा के विकास की एक चेतना जागृत हो गई। भाषा के आधार पर असम से अलग होकर मेघालय और मिजोरम के दो स्वतन्त्र राज्य बन गए। काछाड़ यानी सिलचर की प्रधान भाषा बँगला है। बँगला भाषा की रक्षा के लिए जोरदार आन्दोलन छिड़ा। 19 मई, सन् 1961 को 11 शहीदों ने भाषा के नाम पर अपनी शहादत दी। आखिर काछाड़ के लिए बँगला भाषा स्वीकार कर ली गई। बँगला भाषा के आन्दोलन का प्रभाव क्षेत्र अन्य भाषा-भाषी समाज पर भी पड़ा।

काछाड़ में हिन्दी भाषी समाज की जनसंख्या करीब पाँच लाख से भी अधिक है। अपनी भाषा के प्रति नई जागृति की हिलोर हिन्दी भाषा समाज में भी आई, जिसके परिणामस्वरूप काछाड़ चाय श्रमिक यूनियन के नेताओं के प्रयास से सन् 1961 में घाटी के शीलकुड़ी चाय बागान के पूर्व प्रबन्धक राधेश्याम शर्मा जी को अध्यक्ष और विश्वनाथ उपाध्याय जी को सचिव चुनकर एक हिन्दी विद्यालय संगठन समिति का गठन हुआ।

हिन्दी विद्यालय संगठन समिति के प्रयास से बराक घाटी के विभिन्न स्थानों पर करीब 100 प्राथमिक विद्यालय और कई माध्यमिक विद्यालय खोले गए। सन् 1986 में समिति ने अपनी रजत जयन्ती मनाई, जिसके सम्मेलनों में तत्कालीन राज्यपाल भी उमारायण सिंह, पूर्व केन्द्रीय राज्यमन्त्री सन्तोष मोहन देव, अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान विद्यानिवास मिश्र जैसे हस्तियों ने शिरकत की थी। इस सम्मेलन ने हिन्दी भाषी समाज को चेतना की नई स्फूर्ति से भर दिया।

वर्तमान बराक घाटी में सरकारी शिक्षा विभाग के अतिरिक्त हिन्दी कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाएँ हैं—

हिन्दी विद्यालय संगठन, राष्ट्रभाषा विद्यापीठ, सिलचर, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, मणिपुर हिन्दी प्रचार परिषद् और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा बालाक प्रकाशन। सामान्य शिक्षा के क्षेत्र में भी आज बराक घाटी में प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय तक हिन्दी पढ़ने की सुविधा प्राप्त है। अतः निर्विवाद कह सकते हैं कि बराक घाटी में हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

महर्षि मैर्हीं की भक्ति साधना

डॉ. छोटे लाल बहरदार*

श्रद्धा और विश्वास रूप को भक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक आत्म-निवेदन ही भक्ति है। सेवा करने का अर्थ वाह्य सेवा नहीं बल्कि “ऐसी सेवा कि अपने को समर्पण कर दे, आत्म निवेदन है।”¹ लेकिन ऐसी सेवा-भावना शीघ्र नहीं आती है। इसके लिए दृष्टियोग और शब्द-योग की साधना करनी पड़ती है। महर्षि मैर्हीं के सारे प्रवचन श्रद्धा और विश्वास के साथ आत्म-निवेदन ही हैं। श्रद्धा में प्रेम संयुक्त रहता है इसलिए महर्षि साहब की विनती है कि “प्रेम-भक्ति गुरु दीजिए।”² साथ ही उसने सीख दी है कि “अति अटल श्रद्धा प्रेम से, गुरु भक्ति करनी चाहिए।”³ अतएव, भक्ति का मूल अर्थ है श्रद्धा एवं विश्वास के साथ मन, वचन एवं कर्म से ईश्वर के लिए आत्म-निवेदन।

भक्ति की अनेक परिभाषाएँ भी दी गई हैं। भागवत पुराणकार ने भक्ति के स्वरूपों की चर्चा करते हुए भगवान के प्रति अव्यवहिता तथा अहेतुकी भक्ति को भक्ति बतलाया गया है। नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार परमात्मा के प्रति परम प्रेम रूप भाव ही अमृत स्वरूप भक्ति है। मध्याचार्य “भगवान में ज्ञान एवं विचारपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह को भक्ति का लक्षण मानते हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष लाभ का सरलतम उपाय भक्ति है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का नाम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति का नाम दिया है।”⁴ प्रायः सभी आचार्यों ने भक्ति को एक भाव माना है और प्रसंगानुसार रति, अनुरक्ति, प्रेम, परम प्रेम, आसक्ति, स्नेह आदि शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही इन भावों का आलम्बन ईश्वर है। भाव का आलम्बन यदि ईश्वर है तो वह भाव ही भक्ति है। ऐसी भक्ति से मानव के भीतर उदात्त भावना जगती है और नर में नारायण की अनुभूति होती है।

* डॉ. छोटे लाल बहरदार, राष्ट्रपति पुरस्कृत पूर्वप्राचार्य + 2 बी.बी.एम. उच्च विद्यालय, पूर्णियाँ-854301 (विहार)

महर्षि अपने साहित्य में भाव भक्ति को स्वीकारा है। इसलिए उसने “आरती तन मन्दिर में कीजै”⁵ की शिक्षा दी है। ईश्वर के शरण जाना, ईश्वर का गुणगान करना, ईश्वर को समर्पित हो जाना आदि वैष्णवी भक्ति महर्षि साहब की रचनाओं में भी है—“मँहौं कहत शरण गेहे”⁶ “गुरु करऊँ विनती चरण पड़ि।”⁷ सामाजिकता की दृष्टि से मँहौं की भक्ति में सामाजिक पथ भी अति प्रबल है। महर्षि साहब की शिक्षा है कि “काम, क्रोध, मोह, अहंकार, चिङ्, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना चाहिए और दयाशील, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना साधक के पक्ष में अत्यन्त हितकर है।”⁸

महर्षि साहब ने नवधार्भक्ति की महत्ता स्वीकार की है—“पहली से पाँचवीं भक्ति तक स्थूल भक्ति है। मन्त्र-जल स्थूल ज्ञान में होता है। इसके आगे छठी भक्ति में दमशील बनने को कहते हैं अर्थात् इन्द्रियों को रोकने का स्वभाव वाला होने को कहते हैं।”⁹

“महर्षि भक्ति के दो सोपान मानते हैं—(1) सगुण, (2) निर्गुण। इन्हीं दो सोपानों पर क्रमशः आरढ़ होकर साधक परमात्मा तक पहुँचता है। इसलिए भक्त के लिए पहले सगुण भक्ति अपेक्षित है।”¹⁰

सत्संग से मानव के हृदय में भक्ति-भावना अंकुरित होती है, ज्ञानोदय होता है एवं मानव परमतत्त्व के लिए ऊर्ध्वगामी बनता है। अतएव सत्संग एक ऐसी धरती है जिस पर चलकर ही मानव भक्ति-तत्त्व को प्राप्त करता है। इसलिए सन्त कबीर और महर्षि मँहौं दोनों ने सत्संग की अनिवार्यता पर बल दिया है। महर्षि मँहौं मानव को सदैव सत्संग और ध्यान में संलग्न रहने की शिक्षा देते हुए कहते—“सत्संग नित अरु ध्यान नित, रहिये करत संलग्न हो।”¹¹ “क्योंकि रोज सत्संग करने से मानव के सभी कार्य पूर्ण होते हैं—“नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा, तेरा कार सटै सारा।”¹² महर्षि जी आजीवन घूम-घूम कर सत्संग के द्वारा मानव को ज्ञान बांटते रहे। उनका सम्पूर्ण साहित्य ही सत्संग है।

गुरु परमत्त्व—महल के द्वार हैं। बिना गुरु की कृपा हुए मानव इस महल में प्रवेश नहीं कर पाता है। गुरु की कृपा से ही मानव के भीतर ज्ञान और भक्ति के बीच अंकुरित होते हैं। मानव के भीतर प्रकाश का प्रस्फुटन होता है। निस्सन्देह गुरु की सर्वोपरि महत्ता एवं आवश्यकता है।

मँहौं जी ईश्वर को श्रेष्ठ गुरु मानते हैं—प्रभु से गुरु अधिक जगत विख्यात अहै। बिन गुरु प्रभु नहिं मिलै यद्यपि घट माँहि रहे।”¹³ गुरु की ही दया-दृष्टि से मानव सांसारिक बाधाओं से दूर हटता है। मानव की सभी मनोकामना पूर्ण होती है। महर्षि मँहौं साहित्य में गुरु स्तुति भरी हुई है। गुरु याचना से सम्बन्धित अत्यधिक पद हैं।

महर्षि मँहौं साहित्य में कबीर की अपेक्षा पाप की विवेचना अधिक हुई है। महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि “जो पाप में रहता है तो भक्ति में नहीं रहता है।

भक्ति में रहता है तो पाप में नहीं रहता है। जो भक्ति करता है पापों को छोड़ता है।¹⁴ इसलिए स्वर्य सचेत रहो और पापों से बचने के लिए शक्ति लगाओ। इतना ही नहीं उन्होंने मानव को अमूल्य सीख दी है कि “संसार” में रहने का अच्छा ढंग है “व्यभिचार, चोरी, नशा, हिंसा और झूठ इन पाँच पापों को त्याग कर रहो।”¹⁵

महर्षि मैर्ही की भक्ति में इन दुर्गुणों को त्यागने की शिक्षा दी गई है। “काम, क्रोध, मोह, अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना चाहिए।”¹⁶ दारु, गाँजा, भाँग, अफीम, ताड़ी, चंदू, मदक, कोकिन, तम्बाकू आदि सभी नशे को तजना चाहिए। आचरण की शुद्धता के सम्बन्ध में महर्षि जी कहते हैं “मन पवित्र करो, क्योंकि पवित्र मन वाले को ही समाधि लगती है। सब कोई सदाचार का पालन करो। पवित्र काम के पवित्र आचरण करो।”¹⁷

महर्षि के भक्ति का आकलन करने पर विदित होता है कि उन्हें ईश्वर के अस्तित्व में असीम विश्वास है। उनकी सीख है कि एक सर्वेश्वर पर अचल विश्वास, पूर्ण भरोसा तथा अपने अन्तर में ही उनकी प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखना चाहिए।

महर्षि साहित्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मैर्ही साहब ने स्मरणादि की भक्ति की है। वे साफ-साफ कहते हैं कि ईश्वर भजन करो, इसी से सब क्लेश मिट जाएँगे। जप भी स्मरण भक्ति का एक स्वरूप है। क्योंकि “जप करने से साधक की वृत्ति ईश्वर की ओर जाएगी।”¹⁸ महर्षि के अनुसार ईश्वर भक्ति के लिए तीन कर्म आवश्यक हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना। स्मरण भक्ति के ही संकेतक है क्योंकि इससे ईश्वर का स्मरण होता है और स्मरणकर्ता धीरे-धीरे उर्ध्वर्गति को प्राप्त होता है।

महर्षि मैर्ही ने अपने साहित्य में “सुरत” शब्द का प्रयोग किया है। कबीर साहब जिसे “सुरति” कहते हैं। उसे ही मैर्ही साहब “सुरत” कहते हैं। सुरत या आत्मा गगन पर चढ़कर हर्षित होती है, क्योंकि आत्मा अपने-अपने उस परमात्मा में मिल जाती है। इसलिए उसने कहा है कि “मीन सुरत शब्द जल मिली एकहि।”¹⁹

महर्षि मैर्ही के साहित्य में प्रपत्ति मार्ग की भक्ति दीख पड़ती है। महर्षि मैर्ही भगवान के शरणागत होने के लिए अपने गुरु से प्रार्थना करते हैं—“चरण-शरण अब आए तुम्हारी, सुनिए अर्ज दुरियन मुख की।”²⁰ महर्षि जी ने कबीर की भाँति “गुरु करऊँ विनती चरण पड़ि”²¹ कर प्रपत्ति मार्ग की भक्ति की है। महर्षि जी एक सर्वेश्वर पर ही अचल विश्वास पूर्ण भरोसा करते हैं।

महर्षि मैर्ही गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर ध्यान करते हैं, क्योंकि कबीर को भाँति महर्षि मैर्ही भी जुगनु जोति, मीठी मुरली अनेक नाद ही देखते-सुनते हैं। इसके साथ ही महर्षि मैर्ही क्रमबद्ध शून्य, महाशून्य और भौंवर गुफा में पटने की बात कहते हैं। साथ ही कबीर दास गगन, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि को शून्य मानते हैं, लेकिन महर्षि मैर्ही इन सबों की अलग-अलग स्थिति मानते हैं जहाँ साधक अपनी भक्ति-साधना से क्रमशः पहुँचता है।

महर्षि मैर्हाँ ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के बाद तुरीयावस्था को चौथे पद कहा है। इस पद या अवस्था की विशेषता वे बताते हैं कि “जैसे संसार बहुत लम्बा-चौड़ा है, उसी तरह चौथी अवस्था का देश भी बहुत बड़ा है। चौथी अवस्था में जाओ तो पता चलेगा कि तब हम कभी मरते या जन्मते नहीं हैं।

“सूरत स्थूल से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से कारण में उत्तरोत्तर सिमटते-सिमटते, परदों को भेदते-भेदते त्रयवर्ग-पर या चतुर्थ वर्ग में पहुँच जाती है और परम प्रभु से जा मिलती है।”²¹

मानव को काम, क्रोध, मद, लोभ की पीड़ा नहीं होना चाहिए। वे स्पष्ट कहते हैं कि “कोई उपासक बनिए, साम्प्रदायिकता के फेर में नहीं आइए।”²²

ज्ञान और भक्ति में एक गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि ईश्वर-भक्ति करने के लिए ईश्वर-स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। स्वरूप निर्णय हुए बिना उसकी भक्ति कैसे की जाए, विदित नहीं हो सकता है। बिना ज्ञान के भक्ति नहीं हो सकती है और बिना भक्ति के ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए ज्ञानार्जन पर अत्यधिक बल दिया गया है। ईश्वर का ज्ञान, जीव का ज्ञान, उनसे मिलने का ज्ञान जरूरी है। ईश्वर से मिलने के लिए योग भी आवश्यक है। अतएव ईश्वर के स्वरूप के बारे में ज्ञान प्राप्त कर उनसे मिलाप, योग के लिए साधक भक्ति प्रयास करता है, यही उसकी भक्ति है।

भक्ति एक कठिन साधना है। इसमें साधक को ज्ञानार्जन कर सांसारिक बाधाओं से लड़ना पड़ता है और फिर कुंडलिनी जाग्रत कर घट् चक्रों को भेदता हुआ पवन को शून्य में ले जाना पड़ता है। वस्तुतः मूलाधार चक्र से शून्य तक के रास्ते में साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भक्ति का मार्ग लम्बा है और रास्ते विकट है। भक्ति की कठिनता को अनुभव कर महर्षि मैर्हाँ ने मर्द बनने की शिक्षा दी है। क्योंकि मर्द ही कठिन-से-कठिन बाधाओं का सामना कर सकता है। महर्षि साहब ने यह भी कहा कि सांसारिक कष्टों को छोले बिना भक्ति नहीं होगी, प्रभु की प्राप्ति नहीं होगी।

ज्ञान, भक्ति और योग तीनों एक संग है। तीनों के अभ्यास से ही साधना पूर्ण होती है और ईश्वर की प्राप्ति होती है। भक्ति की पूर्णता मोक्ष में होती है। जब तक साधक अपनी भक्ति-साधना से मोक्ष नहीं पा लेता है, तब तक भक्ति अपूर्ण रहती है और साधक बारम्बार मोक्ष के लिए जन्म लेता रहता है। बारम्बार जन्म लेने के बन्धन से मुक्त होना मोक्ष है। शरीर और संसार से छूटने को मोक्ष कहते हैं। महर्षि जी कहते हैं, “मुक्ति वह है जब कि जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। जैसे नमक जल में घुलकर एक हो जाता है। इस तरह जब जीव उससे अन्य नहीं रह जाता है, तब मुक्ति होती है।”²³ “सब आवरणों को पार किए बिना न परम प्रभु मिलेंगे और न परम मुक्ति मिलेगी। इसलिए दोनों को प्राप्त करने का एक ही साधन है। ईश्वर-भक्ति का साधन कहो, दोनों एक ही बात है।”²⁴

महर्षि मैंहीं कहते हैं कि “जीवनकाल में मुक्ति नहीं हो तो मरने पर मुक्ति हो, यह सम्भव नहीं है। इसके साथ ही महर्षि साहब जीवन मुक्ति को सर्वोपरि मानत हुए कहा है—“शरीर छूटने पर मुक्ति होगी, ऐसा नहीं। पहले जीवन मुक्ति होगी, पीछे विदेह मुक्ति।”²⁵ अतएव, जीवन काल की मुक्ति असली मुक्ति है।

सन्दर्भ

1. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-2, पृ. 46
2. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 9
3. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 6
4. डॉ. हरवंश लाल शर्मा — मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना, पृ. 3-4
5. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 106
6. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 58
7. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 24
8. सन्तसेवी महाराज — अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 174
9. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-4, पृ. 6
10. डॉ. नागेश्वर चौधरी ‘नागेश’ — महर्षि मैंहीं, पृ. 124
11. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 7
12. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 102
13. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 81
14. महर्षि मैंहीं — ईश्वर ज्ञान योग ईश्वर भक्ति, पृ. 47
15. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-1 पृ. 119
16. सन्त सेवी जी महाराज — अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 174
17. महर्षि मैंहीं — ज्ञान योग ईश्वर भक्ति, पृ. 48
18. महर्षि मैंहीं — महर्षि मैंहीं पदावली, पृ. 100, 72
19. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 79
20. महर्षि मैंहीं — पदावली, पृ. 21
21. महर्षि मैंहीं — विनय पत्रिकासार सटीक, पृ. 15
22. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-1, पृ. 12
23. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-2, पृ. 42, 29
24. महर्षि मैंहीं — मोक्ष दर्शन, पृ. 35
25. महर्षि मैंहीं — सत्संग सुधा, भाग-1, पृ. 103

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिन्तन-सृजन के अंक समय पर मिल जाते हैं, हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें।

साहित्य, समाज एवं राजनीति की गतिविधियों से परिचय कराने वाली यह पत्रिका उनकी दशा एवं दिशा का भी दिग्दर्शन कराती है। पाठकों के ज्ञान-वर्धन की दिशा में आपका यह प्रयाश स्वुत्थ है। आश्चर्यजनक और अदूभुत भी।— डॉ. माधुरी नाथ, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं पूर्व सदस्य, अभिषद् राँची विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, अ.भा.सा. परिषद् (झारखण्ड), राँची।

आपकी सम्पादकीय मनीषा से मणित ‘चिन्तन-सृजन’ के वर्ष 13 का अंक 4 (अप्रैल-जून, 2016) प्राप्त कर एक अपूर्व सारस्वत उपलब्धि का बोध हुआ। यह एक त्रैमासिक पत्रिका है, पर आकृति और प्रकृति से पुस्तकीय गरिमा आयत्त करती है। इसमें सम्मिलित प्रत्येक आलेख प्रज्ञाप्रौढ़ लेखनी से प्रसूत हैं। उत्तम चिकने कागज पर सर्वशुद्ध और स्वच्छ मुद्रण इस पत्रिका की अपनी अन्यत्र दुर्लभ पहचान है। इस अंक की प्रत्येक पंक्ति प्रांजल सम्पादकीय मनीषा की उद्घोषिका है।

इस अंक में ग्यारह आलेख और पुस्तकों की समीक्षाएँ आकलित हैं, जो गम्भीरता से पठनीय हैं। मन और बुद्धि को पूर्णतः जागरूक रखकर पढ़ने वाले पाठकों को ही इसकी यथा प्रस्तुत सामग्री के हार्दिका हृदयंगम होना सम्भव है। अन्यथा ‘ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति’ कहावत चरितार्थ होगी।

‘बचकानी हरकतें’ सम्पादकीय अग्रलेख का शीर्षक हलका लगता है, पर उसमें निहित विषय-वस्तु प्रभावक तो है ही, प्रहारक भी है—नावक के तीर की तरह ‘देखन में छोटो लगैं, धाव करै गम्भीर’ जैसे हैं। उदाहरणस्वरूप श्री जिया लाल आर्य का आलेख ‘भारतीय समाज में विधवा का स्थान’ देखने में तो छोटा है, पर उसकी वर्णवस्तु चिन्तन की हथौड़ी जैसी है। मैंने अपने ब्राह्मण-समाज में एक विधवा की दुर्दशा देखी है। समाज के क्रूर सदस्यों ने उस विधवा को दण्ड प्रहार से आहत तो किया ही, विष्ठा घोलकर जबरदस्ती पिलाने का जघन्य कर्म भी किया; क्योंकि वह विधवा उन लोगों की दृष्टि में डायन थी। यह धिनौना सिलसिला समाज में आज भी किसी-न-किसी रूप में कायम है।

आज भी, यदि कोई विधवा युवती है तो समाज का न केवल युवा वर्ग, अपितु तथाकथित वयोवृद्ध वर्ग भी उसे चरित्रहीन मानकर उसपर काम लोलुप दृष्टि गड़ाये रहते हैं। ऐसे समाज में विधवा का जीना प्रत्यक्ष नारकीय कष्ट भुगतने के समान है।

इसी प्रकार, प्राचीन (अब अस्तंगत) सती-प्रथा भी विधवा नारी के दारूण यन्त्रणामय जीवन जीने को संकेतित करती है। श्री आर्यजी को भारतीय विधवा की प्राचीन स्थिति की दारूणता पर और खुलकर लेखनी चलानी चाहिए। क्योंकि, विधवा हमारे अपने समाज की ही अतिशय गौरवमयी जननी के समान है। ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।’

‘चिन्तन-सृजन’ पत्रिका साहित्यिक पत्रकारिता की शीषण्य स्थिति की समुद्रधोषणा करती है। इसमें प्रकाशित साहित्यिक सामग्री हिन्दी-साहित्य की समकालिक स्थिति की विशेषता से अवगत करती है। पं. सदल मिश्र की हिन्दी का पूर्ण और प्रौढ़ विकास ‘चिन्तन-सृजन’ में आकर परिणत और परिपूष्टवय हो गया है।

यथाप्राप्त अप्रैल-जून, 2016 का अंक महार्घ है। इसमें भाषा और साहित्य की समृद्ध स्थिति और विषय का गाम्भीर्य देख-पढ़कर हिन्दी के प्रति गौरव का अनुभव हुआ है।

इस अंक में सम्मिलित आलेखोत्तर ‘पुस्तक-समीक्षा’ स्तम्भ में, प्रथम आलेख में मुद्रण की अशुद्धि इस पत्रिका के गौरव पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। इसमें मुद्रित अनेक शब्द भ्रान्त हैं। जैसे: औपनिसद् (शुद्धः औपनिषद्), गीता के प्रसिद्ध श्लोक की नितान्त भ्रान्तता, अन्तदृष्टया (शुद्धः अन्तर्दृष्टियों), दृष्टया (शुद्धः दृष्टया), ईशावास्योपनिशद् (शुद्धः ईशावास्योपनिषद्), तेन त्यक्तेन् (शुद्धः तेन त्यक्तेन), ऋत् (शुद्धः ऋत), पाप-पूण्य (शुद्धः पाप-पूण्य) आदि शाब्दिक प्रायोगिक स्खलन ध्यातव्य हैं। लोक-सम्मत लोक सम्मत हो गया है हलन्त अनावश्यक है।

यों, आलेख का विषय महनीय तथा उसकी प्रति-पाठन शैली पाण्डित्यपूर्ण और विशद है। मैं विद्वान् लेखक पं. अम्बिकादत्त शर्मा के प्रति विनयावनत हूँ और प्रशंसामुखर भी। – साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, प्रधानमंत्री: विहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, पटना, एम.ए. (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत एवं हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी.एच.डी. साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-पालि-जैनदर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पूर्व-व्याख्यताः प्राकृत, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व-उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक: ‘परिषद्-पत्रिका’ विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना। पता: ‘शुभैषणा’, एमको फैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्र, पटना-800006; मो.09334493466.

जुलाई’ सितम्बर 2015 अंक पढ़कर लगा कि न कोई शोध पत्रिका इतना स्तरीय, विचारोत्तेजक निबंध निकाल पाती है और न कोई समाज वैज्ञानिक इतनी दूर तक समाज की नज़र टटोल सकता है। सभी लेख लंबी टिप्पणी, प्रतिक्रिया के लायक हैं पर मैं संक्षिप्त टिप्पणी द्वारा अपना विचार व्यक्त करता हूँ। नोवेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य

सेन ने भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के प्रमुख के तौर पर येलोप्रागदा सुर्दशन राव को नियुक्त किए जाने पर टिप्पणी की है कि वे इतिहास में अनुसंधान के लिए भले ही नहीं जानेजाते हों लेकिन हिंदुत्व के बारे में उनके विचार सब जानते हैं। उन्होंने हिंदुत्ववादी एजेंडों की प्राथमिकता की बात अपनी पुस्तक ‘कंट्री ऑफ फर्स्ट व्यायज’ में भी व्यक्त की है। अमर्त्य सेन को इस प्रकार की टिप्पणियों से परहेज करना चाहिए।

रमेशचंद्र शाह ने अपनी स्मृति के परिवेश में वसे अङ्गेय को स्मरण किया है। पहला ही उद्धरण कविता की सृजन प्रक्रिया की अंतर्यात्रा करता है—इसलिए कि इलियट के अनुसार भोगनेवाली मनीषा और सृजन करनेवाली मनीषा में अंतर होता है और यह अंतर जितना गहराता है कविता उतनी ही प्रभावक होती है। अतः मन के भावों का तत्काल प्रस्फुटन सच्ची कविता नहीं हो सकती है। अङ्गेय के कविकर्म, सृजनप्रक्रिया एवं व्यक्तित्व की अंतर्यात्रा के लिए यह संस्मरण पाठ्य बन गया है।

कवि कमलेश के काव्य संसार का मूल्यांकन करते हैं प्रयाग शुक्ल। ‘कवि कमलेश का संसार’ में एक बार प्रयाग जी ने उनके, ‘सम्मुख सभागार में’ कविता के लिए आमंत्रित किया। वह कविता पाठ कर इतना प्रसन्न और भावुक हो गए कि ‘खुले में आवास’ (2008) के आभार में उन्होंने उस काव्य पाठ पर टिप्पणी की “इस वर्ष यानी 2007 में जब यह काव्य पाठ आयोजित हुए तो उन्होंने मुझे (कमलेश जी को) कविता की लीक पर वापस डाल दिया” (पृ. 21) महापुरुष किए गए कार्य की प्रशंसा ही नहीं करते न उसके सूत्रधार के प्रति कृतज्ञता का भाव भी व्यक्त करते हैं। कमलेश के व्यक्ति और उनकी कविता की सही परख और प्रशंसा यहाँ उल्लेखनीय है।

प्रभाकर श्रोत्रिय ने सार्वजनिक जीवन में मूल्यनिष्ठता पर गंभीरता से विचार किया है। मैंने जब ‘मानव मूल्य विश्वकोश’ का संपादन किया था, तो मुझे इसका बोध हुआ था। हमारे सारे संबंध क्रिया-व्यापार, क्रिया-प्रतिक्रिया मूल्याधारित हैं कि उससे किसी का अहित नहीं हो, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचे। श्रोत्रिय जी युग की नब्ज पहचानते हैं। जानते हैं कि आसानी से मूल्याधारित वातावरण नहीं बन सकता। अतएव वह स्पष्ट कहते हैं: “मुझे लगता है कि मूल्य के पक्ष में एक वातावरण बनाना पड़ेगा, उन्हे धारण करनेवालों को प्रोत्साहित करना होगा।” (पृ. 34)

कामायनीकार की कामना थी:

औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विसृत कर जो जग को सुखी बनाओ।

सभी लेख, समीक्षाएँ प्रेरक, दिशादर्शक और दृगोन्मिलक हैं। लेखकगण बधाई के पात्र हैं और संपादक के लिए धन्यवाद के शब्द हल्के लगते हैं। - प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, बृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 82969875286.

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकों/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

हँस के लेंगे हिन्दुस्तान, संपादक: नीलकंठ, प्रकाशक: गीता प्रकाशन, रामकोट, हैदराबाद, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 224, मूल्य: 200.00 रुपये।

इद्र धनुष के रंग, संपादक: डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रकाशक: साहित्य सहकार प्रकाशन, 29/62, गली न. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण: 2016, पृष्ठ: 112, मूल्य: 300.00 रुपये।

जहाँ से उजास मेरी प्रेरणाएँ, संपादक: राजी सेठ, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 148, मूल्य: 125.00 रुपये।

राजी सेठ की यादगारी कहानियाँ, संपादक: राजी सेठ, प्रकाशक: हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जे-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110003, प्रथम संस्करण: 2014, पृष्ठ: 176, मूल्य: 135.00 रुपये।

प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना, संपादक: आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, प्रकाशक: नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 190, मूल्य: 395.00 रुपये।

भारतीय राष्ट्रवाद के दो स्वर, संपादक: प्रमोद कुमार, प्रकाशक: अनुज्ञा बुक्स, 1/10206, वेस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण: 2015, पृष्ठ: 64, मूल्य: 75.00 रुपये।

पत्रिकाएँ:

तत्त्व-सिन्धु, वर्ष-3 फरवरी, 2016, संपादक: राकेश मिश्र, प्रकाशक: कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, ई-1, रामकृष्णपुरम्, कल्याणपुर (पश्चिम), पो. विकासनगर, लखनऊ-226022, पृष्ठ: 196, मूल्य: 100/- रुपये।

गवेषणा अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण तथा साहित्य चिंतन की त्रैमासिक शोध-पत्रिका, अंक-106 (जनवरी-मार्च, 2016); प्रधान संपादक: नन्द किशोर पाण्डेय, प्रकाशक: सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठ: 190, मूल्य: 40/- रुपये।

तत्सम निरंतर, वर्ष-3 अंक-1 फरवरी-2016, संपादक: डॉ. सत्यप्रकाश सिंह; प्रकाशक: बी-49, दिव्यनगर, पो. खोराबार, गोरखपुर-273010 (उ.प्र.), पृष्ठ: 88, मूल्य: 100/- रुपये।

चौराहा साहित्य और संस्कृति की अद्व्यार्थिक पत्रिका, अंक-7 जुलाई-दिसम्बर, 2016, संपादक: अंजना वर्मा,

प्रकाशक: कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-842003, पृष्ठ: 72, मूल्य: 35/- रुपये।

पूर्वोत्तर साहित्य विमर्श (विमर्श केंद्रित भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का संवाहक), अंक-5 वर्ष-4 जनवरी-मार्च, 2016, संपादक: डॉ. हरेराम पाठक, प्रकाशक: 'पूर्वोत्तर साहित्य विमर्श संस्थान', डिगबोई (असम), पृष्ठ: 56, मूल्य: 30/- रुपये।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684,

वेबसाइट: www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

- शिक्षणपरक कार्यक्रम: (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोशित), (v) जनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)
- अनुसंधानपरक कार्यक्रम: (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोग्रामिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v)

हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास: (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रेख माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकाशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबंध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'भीड़िया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की ट्रृष्ट से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबंध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समृद्ध करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (অসম), आइजोल (মিজোরাম), মেসুর (কর্ণাটক), দীমাপুর (নাগালেংড) কে রাজকীয় হিংদী শিক্ষক-প্রশিক্ষণ মহা঵িদ্যালয়ের কো-স্টেট স্কুল সे সंबंध কিয়া গয়া হै।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरूआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कौर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोष परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोष परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in

सेवा में,

आस्था भारती
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट,
मयूर विहार फेस-1 विस्तार,
दिल्ली-110 096.

महोदय,

मैं त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन का ग्राहक बनना चाहता हूँ। इस हेतु.....
.....रुपये चेक/बैंक ड्राफ्ट सलग्न है। यह शुल्क एक वर्ष/तीन वर्ष के लिए है
(विटिक करें)।

नाम :

.....

पता (शहर, पिन कोड अवश्य लिखें) :

.....

फोन नं. :

ई-मेल :

भवदीय

(हस्ताक्षर)

नोट: 1. चेक/बैंक ड्राफ्ट “आस्था भारती” के नाम से होना चाहिए तथा नई दिल्ली/दिल्ली में देय होना चाहिए।

पत्रिका चेक के भुगतान के बाद साधारण डाक से भेजी जाएगी।

2. चिन्तन-सृजन की शुल्क निम्न है।

वार्षिक मूल्य:

व्यक्तियों के लिए 60.00 रुपए व्यक्तियों के लिए 20.00 रुपए

संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 150.00 रुपए संस्थाओं के लिए 40.00 रुपए

एक प्रति का मूल्य

तीन वर्ष:

व्यक्तियों के लिए 180.00 रुपए

संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए 400.00 रुपए